

समत्व योग और अन्य योग



लेखक

डॉ. सागरमल जैन

समत्वयोग

1. जैन-साधना का केन्द्रीय-तत्त्व समत्व-योग

समत्व की साधना ही सम्पूर्ण आचार-दर्शन का सार है। आचारगत सब विधि-निषेध और प्रयास इसी के लिए हैं। जहाँ-जहाँ जीवन है, चेतना है, वहाँ-वहाँ समत्व बनाए रखने के प्रयास दृष्टिगोचर होते हैं। चैतसिक-जीवन का मूल स्वभाव यह है कि वह बाह्य एवं आन्तरिक उत्तेजनाओं एवं संवेदनाओं से उत्पन्न विक्षोभों को समाप्त कर साम्यावस्था बनाए रखने की कोशिश करता है। फ्रायड लिखते हैं कि चैतसिक-जीवन और सम्भवतया स्नायविक-जीवन की भी प्रमुख प्रवृत्ति है – आन्तरिक उद्दीपकों के तनाव को समाप्त करना एवं साम्यावस्था को बनाए रखने के लिए सदैव प्रयासशील रहना।¹ एक लघु कीट भी अपने को वातावरण से समायोजित करने का प्रयास करता है। चेतन की स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह सदैव समत्व-केन्द्र की ओर बढ़ना चाहता है। समत्व के हेतु प्रयास करना ही जीवन का सारतत्त्व है।

सतत शारीरिक एवं प्राणमय जीवन के अभ्यास के कारण चेतन बाह्य-उत्तेजनाओं एवं संवेदनाओं से प्रभावित होने की प्रवृत्ति विकसित कर लेता है। परिणामस्वरूप, चेतन जीवनोपयोगी अन्य पदार्थों में ममत्व का आरोपण कर अपने सहज समत्व-केन्द्र का परित्याग करता है। सतत अभ्यास एवं स्व-स्वरूप का अज्ञान ही उसे समत्व के केन्द्र से च्युत करके बाह्य-पदार्थों में आसक्त बना देता है। चेतन अपने शुद्ध द्रष्टाभाव या साक्षीपन को भूलकर बाह्य वातावरणजन्य परिवर्तनों से अपने को प्रभावित समझने लगता है। वह शरीर, परिवार एवं संसार के अन्य पदार्थों के प्रति ममत्व रखता है और इन पर पदार्थों की प्राप्ति – अप्राप्ति या संयोग-वियोग में अपने को सुखी या दुःखी मानता है। उसमें 'पर' के प्रति आकर्षण या विकर्षण का भाव उत्पन्न होता है। वह 'पर' के साथ रागात्मक-सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है। इसी रागात्मक-सम्बन्ध से वह बन्धन या दुःख को प्राप्त होता है। 'पर' में आत्म-बुद्धि से प्राणी में असंख्य इच्छाओं, वासनाओं, कामनाओं एवं उद्देश्यों का जन्म होता है। प्राणी इनके वशीभूत होकर इनकी पूर्ति व तृप्ति के लिए सदैव आकुल बना रहता है। यह आकुलता ही उसके दुःख का मूल कारण है। यद्यपि वह इच्छाओं की पूर्ति के द्वारा उन्हें शान्त करना चाहता है, परन्तु नई-नई कामनाओं के उत्पन्न होते रहने से वह सदैव ही आकुल या अशान्त बना रहता है और बाह्य-जगत् में उनकी पूर्ति के लिए मारा-मारा फिरता है। यह आसक्ति या राग न केवल उसे समत्व के स्वकेन्द्र से च्युत करता है, वरन् उसे बाह्य-पदार्थों के आकर्षण-क्षेत्र में खींचकर उसमें एक तनाव भी उत्पन्न कर देता है और इससे चेतना दो केन्द्रों में बँट जाती है। आचारांगसूत्र में कहा है, यह मनुष्य अनेकचित्त है, अर्थात् अनेकानेक कामनाओं के कारण मनुष्य का मन बिखरा हुआ रहता है। वह अपनी कामनाओं की पूर्ति क्या करना चाहता है, एक तरह से छलनी को जल से भरना चाहता है।² इन दो स्तरों पर

समत्वयोग और अन्य योग : 1

चेतना में दोहरा संघर्ष उत्पन्न हो जाता है — 1. चेतना के आदर्शात्मक और वासनात्मक-पक्षों में (इसे मनोविज्ञान में 'ईड' और 'सुपर इगो' का संघर्ष कहा है) तथा 2. हमारे वासनात्मक पक्ष का उस बाह्य-परिवेश के साथ, जिसमें वह अपनी वासनाओं की पूर्ति चाहता है। इस विकेन्द्रीकरण और तज्जनित संघर्ष में आत्मा की सारी शक्तियाँ बिखर जाती हैं, कुण्ठित हो जाती हैं।

नैतिक-साधना का कार्य इसी संघर्ष को समाप्त कर चेतन-समत्व को यथावत् कर देना है, ताकि उस केन्द्रीकरण द्वारा वह अपनी ऊर्जाओं को जोड़कर आत्मशक्ति का यथार्थ प्रकटन कर सके।

एक अन्य दृष्टि से विचार करें, तो हम बाह्य-जगत् में रस लेने के लिए जैसे ही उसमें अपना आरोपण करते हैं, वैसे ही एक प्रकार का द्वैत प्रकट हो जाता है, जिसमें हम अपनेपन का आरोपण करते हैं, आसक्ति रखते हैं, वह हमारे लिए 'स्व' बन जाता है और उससे भिन्न या विरोधी 'पर' बन जाता है। आत्मा की समत्व के केन्द्र से च्युति ही उसे इन 'स्व' और 'पर' के दो विभागों में बाँट देती है। नैतिक-चिन्तन में इन्हें हम क्रमशः राग और द्वेष कहते हैं। राग आकर्षण का सिद्धान्त है और द्वेष विकर्षण का। अपना-पराया, राग-द्वेष अथवा आकर्षण-विकर्षण के कारण हमारी चेतना में सदैव ही तनाव, संघर्ष अथवा द्वन्द्व बना रहता है। यद्यपि चेतना या आत्मा अपनी स्वाभाविक-शक्ति के द्वारा सदैव साम्यावस्था या सन्तुलन बनाने का प्रयास करती रहती है, लेकिन राग एवं द्वेष-किसी भी स्थायी सन्तुलन की अवस्था को सम्भव नहीं होने देते। यही कारण है कि भारतीय-नैतिकता में राग-द्वेष से ऊपर उठना सम्यक् जीवन की अनिवार्य शर्त मानी गई है।

भारतीय नैतिक-चिन्तन सदैव ही इस दृष्टि से जागरूक रहा है। जैन-नैतिकता का वीतरागता या समत्वयोग (समभाव) का आदर्श और बौद्ध-नैतिकता का सम्यक्-समाधि या वीततृष्णता का आदर्श राग-द्वेष के इस द्वन्द्व से ऊपर उठकर समत्व (साम्यावस्था) में स्थाई अवस्थिति ही है। गीता का नैतिक आदर्श भी इस द्वन्द्वतीत साम्यावस्था की उपलब्धि है, क्योंकि वही अबन्धन की अवस्था है।³ गीता के अनुसार इच्छा (राग) एवं द्वेष से समुत्पन्न यह द्वन्द्व ही अज्ञान है, मोह है। इस द्वन्द्व से ऊपर उठकर ही परमात्मा की आराधना सम्भव होती है।⁴ जो इस द्वन्द्व से विमुक्त हो जाता है, वह परमपद मोक्ष या निर्वाण को प्राप्त हो जाता है।⁵ इस प्रकार, राग-द्वेषातीत समत्व-प्राप्ति की दिशा में प्रयत्न ही समालोच्य आचार-दर्शनों की नैतिक-साधना का केन्द्रीय-तत्त्व है।

2. जैन-आचारदर्शन में समत्व-योग

जैन-विचार में नैतिक एवं आध्यात्मिक-साधना के मार्ग को समत्व-योग कह सकते हैं। इसे जैन-परिभाषित शब्दावली में सामायिक कहा जाता है। समग्र जैन नैतिक तथा आध्यात्मिक-साधना को एक ही शब्द में समत्व की साधना कह सकते हैं। सामायिक शब्द सम्

उपसर्गपूर्वक अय् धातु से बना है। अय् धातु के तीन अर्थ हैं— ज्ञान, गमन और प्रापण। ज्ञान शब्द विवेक—बुद्धि का, गमन शब्द आचरण या क्रिया का और प्रापण शब्द प्राप्ति या उपलब्धि का द्योतक है। सम् उपसर्ग उनकी सम्यक् या उचितता का बोध कराता है। सम्यक् की प्राप्ति ही सम्यक्त्व या सम्यक्दर्शन है। कुछ विचारकों के अनुसार सम्यक्-क्रिया विधि-पक्ष में सम्यक्चारित्र और भावपक्ष में सम्यग्दर्शन (श्रद्धा) है। दूसरे कुछ विचारकों की दृष्टि में सम्यक्-ज्ञान शब्द में दर्शन भी अन्तर्निहित है। सम् का एक अर्थ रागद्वेष से अतीत अवस्था भी है और अय् धातु का प्रापण या प्राप्तिपरक अर्थ लेने पर उसका अर्थ होगा—राग-द्वेष से अतीत अवस्था की प्राप्ति, जो प्रकारान्तर से मुक्ति का सूचक है। इस प्रकार, सामायिक (समत्वयोग) शब्द एक ओर सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र-रूप त्रिविध साधना-पथ को अपने में समाहित किए हुए है, तो दूसरी ओर इस त्रिविध साधना-पथ के साध्य (मुक्ति) से भी समन्वित है।

आचार्य भद्रबाहु ने आवश्यकनिर्युक्ति में सामायिक के तीन प्रकार बताए हैं— 1. सम्यक्त्व-सामायिक, 2. श्रुत-सामायिक और 3. चारित्र-सामायिक। चारित्र-सामायिक के श्रमण और गृहस्थ-साधकों के आचार के आधार पर दो भेद किए हैं।⁶ सम्यक्त्व-सामायिक का अर्थ सम्यग्दर्शन, श्रुत-सामायिक का अर्थ सम्यग्ज्ञान और चारित्र-सामायिक का अर्थ सम्यक्चारित्र है। इन्हें आधुनिक मनोवैज्ञानिक-भाषा में चित्तवृत्ति का समत्व, बुद्धि का समत्व और आचरण का समत्व कह सकते हैं। इस प्रकार, जैन-विचार का साधना-पथ वस्तुतः समत्वयोग की साधना ही है, जो मानव-चेतना के तीन पक्ष-भाव, ज्ञान और संकल्प के आधार पर त्रिविध बन गया है। भाव, ज्ञान और संकल्प को सम बनाने का प्रयास ही समत्व-योग की साधना है।

जैन-दर्शन में विषमता (दुःख) का कारण

यदि हम यह कहें कि जैनधर्म के अनुसार जीवन का साध्य समत्व का संस्थापन है, समत्व-योग की साधना है, तो सबसे पहले हमें यह जान लेना है कि समत्व से च्युति का कारण क्या है? जैन-दर्शन में मोहजनित आसक्ति ही आत्मा के अपने स्वकेन्द्र से च्युति का कारण है। आचार्य कुन्दकुन्द का कथन है कि मोह-क्षोभ से रहित आत्मा की अवस्था सम है⁷, अर्थात् मोह और क्षोभ से युक्त चेतना या आत्मा की अवस्था ही विषमता है। पंडित मुखलालजी का कथन है कि शारीरिक एवं प्राणमय जीवन के अभ्यास के कारण चेतन अपने सहज समत्व-केन्द्र का परित्याग करता है। वह जैसे-जैसे अन्य पदार्थों में रस लेता है, वैसे-वैसे जीवनोपयोगी अन्य पदार्थों में अपने अस्तित्व (ममत्व) का आरोपण करने लगता है। यह उसका स्वयं अपने बारे में मोह या अज्ञान है। यह अज्ञान ही उसे समत्व-केन्द्र में से च्युत करके इतर परिमित वस्तुओं में रस लेने वाला बना देता है। यह रस (आसक्ति) ही रागद्वेष जैसे क्लेशों का प्रेरक तत्त्व है। इस तरह, चित्त का वृत्तिचक्र अज्ञान एवं क्लेशों के आवरण से इतना अधिक आवृत्त एवं अवरुद्ध हो जाता है कि उसके कारण जीवन प्रवाह-पतित ही बना रहता है— अज्ञान, अविद्या अथवा मोह, जिसे

समत्वयोग और अन्य योग : 3

ज्ञेयावरण भो कहते हैं , चेतनगत समत्व-केन्द्र को ही आवृत्त करता है, जबकि उसमें पैदा होने वाला क्लेश-चक्र, (रागादि भाव) बाह्य वस्तुओं में ही प्रवृत्त रहता है।⁸ सारी विषमताएँ कर्म-जनित हैं और कर्म राग-द्वेषजनित है। इस प्रकार, आत्मा का राग-द्वेष से युक्त होना ही विषमता है, दुःख है, वेदना है और यही दुःख विषमता का कारण भी है। समत्व या राग-द्वेष से अतीत अवस्था आत्मा की स्वभाव-दशा है। राग-द्वेष से युक्त होना विभाव-दशा है, परपरिणति है। इस प्रकार परपरिणति, विभाव या विषयभाव का कारण रागात्मकता या आसक्ति है। आसक्ति से प्राणी स्व से बाहर चेतना से भिन्न पदार्थों या परपदार्थों की प्राप्ति या अप्राप्ति में सुख की कल्पना करने लगता है। इस प्रकार, चेतन बाह्य-कारणों से अपने भीतर विचलन उत्पन्न करता है, पदार्थों के संयोग-वियोग या लाभ-अलाभ में सुख-दुःख की कल्पना करने लगता है। चित्तवृत्ति बहिर्मुख हो जाती है, सुख की खोज में बाहर भटकती रहती है। यह बहिर्मुख चित्तवृत्ति, चिन्ता, आकुलता, विक्षोभ आदि उत्पन्न करती है और चेतना या आत्मा का सन्तुलन भंग कर देती है। यही चित्त या आत्मा की विषमावस्था समग्र दोषों एवं अनैतिक आचरणों की जन्म-भूमि है। विषय-भाव या राग-द्वेष होने से कामना, वासना, मूर्च्छा, अहंकार, पराश्रयता, आकुलता, निर्दयता, संकीर्णता, स्वार्थपरता, सुख-लोलुपता आदि दोषों की वृद्धि होती रहती है, जो व्यक्ति, परिवार, समाज एवं विश्व के लिए विषमताओं का कारण बनती है। संकीर्णता, स्वार्थपरता एवं सुखलोलुपता के कारण व्यक्ति अन्य व्यक्तियों से येन-केन-प्रकारेण अपना स्वार्थ साधना चाहता है। उसके इन कृत्यों एवं प्रवृत्तियों से परिजन, समाज, देश व विश्व का अहित होता है। प्रतिक्रियास्वरूप, दोहरा संघर्ष पैदा होता है। एक ओर उसकी वासनाओं के मध्य आन्तरिक संघर्ष चलता रहता है, तो दूसरी ओर उसका बाह्य-वातावरण से, अर्थात् समाज, देश और विश्व से संघर्ष चलता रहता है।

इसी संघर्ष की समाप्ति के लिए और विषमताओं से ऊपर उठने के लिए समत्वयोग की साधना आवश्यक है। समत्व-योग राग-द्वेष-जन्य चेतना की सभी विकृतियाँ दूर कर आत्मा को अपनी स्वभाव-दशा में अथवा उसके अपने स्व-स्वरूप में प्रतिष्ठित करता है।

जैनधर्म में समत्व-योग का महत्व

समत्व-योग के महत्व का प्रतिपादन करते हुए जैनागमों में कहा गया है कि व्यक्ति चाहे दिग्म्बर हो या श्वेताम्बर, बौद्ध हो अथवा अन्य किसी मत का, जो भी समभाव में स्थित होगा, वह निस्संदेह मोक्ष प्राप्त करेगा।⁹ एक आदमी प्रतिदिन लाख स्वर्ण-मुद्राओं का दान करता है और दूसरा समत्व-योग की साधना करता है, किन्तु वह स्वर्ण-मुद्राओं का दानी व्यक्ति समत्व-योग के साधक की समानता नहीं कर सकता।¹⁰ करोड़ों जन्म तक निरन्तर उग्र तपश्चरण करने वाला साधक जिन कर्मों को नष्ट नहीं कर सकता, उनको समभाव का साधक मात्र आधे ही क्षण में नष्ट

कर डालता है।¹¹ चाहे कोई कितना ही तीव्र, तप तपे, जप जपे अथवा मुनि-वेश धारण कर स्थूल क्रियाकाण्ड-रूप चरित्र का पालन करे, परन्तु समताभाव के बिना न किसी को मोक्ष हुआ है और न होगा।¹² जो भी साधक अतीतकाल में मोक्ष गए हैं, वर्तमान में जा रहे हैं और भविष्य में जाएंगे, यह सब समत्वयोग का प्रभाव है।¹³ आचार्य हेमचन्द्र समभाव की साधना को राग-विजय का मार्ग बताते हुए कहते हैं कि तीव्र आनन्द को उत्पन्न करने वाले समभावरूपी जल में अवगाहन करने वाले पुरुषों का राग-द्वेषरूपी मल सहज नष्ट हो जाता है।¹⁴ समताभाव के अवलम्बन से अन्तर्मुहूर्त में मनुष्य जिन कर्मों का नाश कर डालता है, वे तीव्र तपश्चर्या से करोड़ों जन्मों में भी नहीं नष्ट हो सकते।¹⁵ जैसे आपस में चिपकी हुई वस्तुएँ बांस आदि की सलाई से पृथक् की जाती हैं, उसी प्रकार परस्पर बद्ध-कर्म और जीव को साधु समत्वभाव की शलाका से पृथक् कर देते हैं।¹⁶ समभावरूप सूर्य के द्वारा राग-द्वेष और मोह का अंधकार नष्ट कर देने पर योगी अपनी आत्मा में परमात्मा का स्वरूप देखने लगते हैं।¹⁷

जैनधर्म में समत्वयोग का अर्थ

समत्वयोग का प्रयोग हम जिस अर्थ में कर रहे हैं, उसके प्राकृत-पर्यायवाची शब्द हैं - सामाइय कया समाहि। जैन-आचार्यों ने इन शब्दों की जो अनेक व्याख्याएँ की हैं, उनके आधार पर समत्व-योग का स्पष्ट अर्थबोध हो सकता है।

1. सम, अर्थात् राग और द्वेष की वृत्तियों से रहित मनःस्थिति प्राप्त करना समत्वयोग (सामायिक) है।
2. शम (जिसका प्राकृत रूप भी सम है), अर्थात् क्रोधादि कषायों को शमित (शांत) करना समत्वयोग है।
3. सभी प्राणियों के प्रति मैत्रीभाव रखना समत्वयोग है।
4. सम का अर्थ एकीभाव है और अय का अर्थ गमन है, अर्थात् एकीभाव के द्वारा बहिर्मुखता (परपरिणति) का त्याग कर अन्तर्मुख होना। दूसरे शब्दों में, आत्मा का स्वस्वरूप में रमण करना या स्वभाव-दशा में स्थित होना ही समत्वयोग है।
5. सभी प्राणियों के प्रति आत्मवत् दृष्टि रखना समत्वयोग है।
6. सम शब्द का अर्थ अच्छा है और अयन शब्द का अर्थ आचरण है, अतः अच्छा या शुभ आचरण भी समत्वयोग (सामायिक) है।¹⁸

नियमसार¹⁹ और अनुयोगद्वारसूत्र²⁰ में आचार्यों ने इस समत्व की साधना के स्वरूप का बहुत ही स्पष्ट वर्णन किया है। सर्व पापकर्मों से निवृत्ति, समस्त इन्द्रियों का सुसमाहित होना, सभी प्राणियों के प्रति मैत्रीभाव एवं आत्मवत् दृष्टि, तप, संयम और नियमों के रूप में सदैव ही आत्मा का सान्निध्य, समस्त राग और द्वेषजन्य विकृतियों का अभाव, आर्त एवं रौद्र चिन्तन,

समत्वयोग और अन्य योग : 5

हास्य, रति, अरति, शोक, घृणा, भय एवं कामवासना आदि मनोविकारों की अनुपस्थिति और प्रशस्त विचार ही आर्हत्-दर्शन में समत्व का स्वरूप हैं।

जैन-आगमों में समत्वयोग का निर्देश

जैनागमों में समत्वयोग सम्बन्धी अनेक निर्देश यत्र-तत्र बिखरे हुए हैं, जिनमें से कुछ यहाँ प्रस्तुत हैं। आर्य महापुरुषों ने समभाव में धर्म कहा है।²¹ साधक न जीने की आकांक्षा करे और न मरने की कामना करे। वह जीवन और मरण-दोनों में किसी तरह की आसक्ति न रखे, समभाव से रहे।²² शरीर और इन्द्रियों के क्लान्त होने पर भी साधक समभाव रखे। इधर-उधर गति एवं हलचल करता हुआ भी साधक निन्द नहीं है, यदि वह अन्तरंग में अविचल एवं समाहित है,²³ अतः साधक मन को ऊँचा-नीचा (डांवाडोल) न करे।²⁴ साधक को अन्दर और बाहर सभी ग्रन्थियों (बन्धनरूप गाँठों) से मुक्त होकर जीवन-यात्रा पूरी करनी चाहिए।²⁵ जो समस्त प्राणियों के प्रति समभाव रखता है, वही श्रमण है।²⁶ समता से ही श्रमण कहलाता है।²⁷ तृण और कनक (स्वर्ण) में जब समान बुद्धि (समभाव) रहती है, तभी उसे प्रब्रज्या कहा जाता है।²⁹ जो न राग करता है, न द्वेष, वही वस्तुतः मध्यस्थ (सम) है, शेष सब अमध्यस्थ हैं,²⁹ अतः साधक सदैव विचार करे कि सब प्राणियों के प्रति मेरा समभाव है, किसी से मेरा वैर नहीं है,³⁰ क्योंकि चेतना (आत्मा) चाहे वह हाथी के शरीर में हो, मनुष्य के शरीर में हो या कुन्थुआ के शरीर में हो, चेतन-तत्त्व की दृष्टि से समान ही है।³¹ इस प्रकार, जैन आचार-दर्शन का निर्देश यही है कि आन्तरिक-वृत्तियों में तथा सुख-दुःख, लाभ-अलाभ, जीवन-मरण आदि परिस्थितियों में सदैव समभाव रखना चाहिए और जगत् के सभी प्राणियों को आत्मवत् समझकर व्यवहार करना चाहिए। संक्षेप में, विचारों के क्षेत्र में समभाव का अर्थ है-तृष्णा, आसक्ति तथा राग-द्वेष के प्रत्ययों से ऊपर उठना और आचरण के क्षेत्र में समभाव का अर्थ है-जगत् के सभी प्राणियों को अपने समान मानकर उनके प्रति आत्मवत् व्यवहार करना; यही जैन-नैतिकता की समत्वयोग की साधना है।

3. बौद्ध आचार-दर्शन में समत्व-योग

बौद्ध आचार-दर्शन में साधना का जो अष्टांगिक-मार्ग है, उसमें प्रत्येक साधन-पक्ष का सम या सम्यक् होना आवश्यक है। बौद्ध-दर्शन में समत्व प्रत्येक साधन-पक्ष का अनिवार्य अंग है। पालि भाषा का 'सम्मा' शब्द सम् और सम्यक्-दोनों अर्थों की अवधारणा करता है। यदि सम्यक् शब्द का अर्थ 'अच्छा' ग्रहण करते हैं, तो प्रश्न यह होगा कि अच्छे से क्या तात्पर्य है? वस्तुतः, बौद्ध-दर्शन में इनके सम्यक् होने का तात्पर्य यही हो सकता है कि ये साधन व्यक्ति को राग-द्वेष की वृत्तियों से ऊपर उठने की दिशा में कितने सहायक हैं। इनका सम्यक्त्व राग-द्वेष की वृत्तियों के कम करने में है, अथवा सम्यक् होने का अर्थ है- राग-द्वेष और मोह से रहित होना। राग-द्वेष का प्रहाण ही समत्व-योग की साधना का प्रयास है।

बौद्ध अष्टांग आर्य-मार्ग में अन्तिम सम्यक् समाधि है। यदि हम समाधि को व्यापक अर्थ

में ग्रहण करें, तो निश्चित ही वह मात्र ध्यान की एक अवस्था न होकर चित्तवृत्ति का 'समत्व' है, चित्त का राग-द्वेष से शून्य होना है और इस अर्थ में वह जैन-परम्परा की 'समाधि' (समाधि-सामायिक) से भी अधिक दूर नहीं है। सूत्रकृतांगचूर्णि में कहा गया है कि राग-द्वेष का परित्याग समाधि है।³² वस्तुतः, जब तक चित्तवृत्तियां सम नहीं होतीं, तब तक समाधि-लाभ संभव नहीं। भगवान् बुद्ध ने कहा है, जिन्होंने धर्मों को ठीक प्रकार से जान लिया है, जो किसी मत, पक्ष या वाद में नहीं हैं, वे सम्बुद्ध हैं, समद्रष्टा हैं और विषय-स्थिति में भी उनका आचरण सम रहता है।³³ बुद्धि, दृष्टि और आचरण के साथ लगा हुआ सम्प्रत्यय बौद्ध-दर्शन में समत्वयोग का प्रतीक है, जो बुद्धि, मन और आचरण-तीनों को सम बताने का निर्देश देता है। संयुक्तनिकाय में कहा है, आर्यों का मार्ग सम है, आर्य विषमस्थिति में भी सम का आचरण करते हैं।³⁴ धम्मपद में बुद्ध कहते हैं, जो समत्व-बुद्धि से आचरण करता है तथा जिसकी वासनाएँ शान्त हो गई हैं - जो जितेन्द्रिय है, संयम एवं ब्रह्मचर्य का पालन करता है, सभी प्राणियों के प्रति दण्ड का त्याग कर चुका है, अर्थात् सभी के प्रति मैत्रीभाव रखता है, किसी को कष्ट नहीं देता है, ऐसा व्यक्ति, चाहे वह आभूषणों को धारण करने वाला गृहस्थ ही क्यों न हो, वस्तुतः श्रमण है, भिक्षुक है।³⁵ जैन-विचारणा में 'सम' का अर्थ कषायों का उपशम है। इस अर्थ में भी बौद्ध-विचारणा समत्वयोग का समर्थन करती है। मज्झिमनिकाय में कहा गया है - राग-द्वेष एवं मोह का उपशम ही परम आर्य-उपशम है।³⁶ बौद्ध-परम्परा में भी जैन-परम्परा के समान ही यह स्वीकार किया गया है कि समता का आचरण करने वाला ही श्रमण है।³⁷ समत्व का अर्थ आत्मवत् दृष्टि स्वीकार करने पर भी बौद्ध-विचारणा में उसका स्थान निर्विवाद रूप से सिद्ध होता है। सुत्तनिपात में कहा गया है कि जैसा मैं हूँ, वैसे ही जगत् के सभी प्राणी हैं, इसलिए सभी प्राणियों को अपने समान समझकर आचरण करें।³⁸ समत्व का अर्थ राग-द्वेष का प्रहाण या राग-द्वेष की शून्यता करने पर भी बौद्ध-विचारणा में समत्वयोग का महत्वपूर्ण स्थान सिद्ध होता है। उदान में कहा गया है कि राग-द्वेष और मोह का क्षय होने से निर्वाण प्राप्त होता है।³⁹ बौद्ध-दर्शन में वर्णित चार ब्रह्मविहार अथवा भावनाओं में भी समत्वयोग का चिन्तन परिलक्षित होता है। मैत्री, करुणा और मुदिता (प्रमोद) भावनाओं का मुख्य आधार आत्मवत् दृष्टि है, इसी प्रकार माध्यस्थ-भावना या उपेक्षा के लिए सुख-दुःख, प्रिय-अप्रिय, लौह-कांचन में समभाव का होना आवश्यक है। वस्तुतः, बौद्ध-विचारणा जिस माध्यस्थवृत्ति पर बल देती है, वह समत्वयोग ही है।

4. गीता के आचार-दर्शन में समत्वयोग

गीता के आचार-दर्शन का मूल स्वर भी समत्वयोग की साधना है। गीता को योग-शास्त्र कहा गया है। योग शब्द युज् धातु से बना है, युज् धातु दो अर्थों में आता है। उसका एक अर्थ है-जोड़ना, संयोजित करना और दूसरा अर्थ है-संतुलित करना, मनः स्थिरता। गीता दोनों अर्थों में उसे स्वीकार करती है। पहले अर्थ में जो जोड़ता है, वह योग है, अथवा जिसके द्वारा जुड़ा

समत्वयोग और अन्य योग : 7

जाता है या जो जुड़ता है, वह योग है,⁴⁰ अर्थात् जो आत्मा को परमात्मा से जोड़ता है, वह योग है। दूसरे अर्थ में, योग वह अवस्था है, जिसमें मनःस्थिरता होती है।⁴¹ डॉ. राधाकृष्णन् के शब्दों में योग का अर्थ है-अपनी आध्यात्मिक-शक्तियों को एक जगह इकट्ठा करना, उन्हें संतुलित करना और बढ़ाना।⁴² गीता सर्वांगपूर्ण योग-शास्त्र प्रस्तुत करती है, लेकिन प्रश्न उठता है कि गीता का यह योग क्या है? गीता योग शब्द का प्रयोग कभी ज्ञान के साथ, कभी कर्म के साथ और कभी भक्ति अथवा ध्यान के अर्थ में करती है, अतः यह निश्चय कर पाना अत्यन्त कठिन है कि गीता में योग का कौन-सा रूप मान्य है। यदि गीता एक योग-शास्त्र है, तो ज्ञानयोग का शास्त्र है, या कर्मयोग का शास्त्र है, अथवा भक्तियोग का शास्त्र है? यह विवाद का विषय रहा है। आचार्य शंकर के अनुसार, गीता ज्ञानयोग का प्रतिपादन करती है।⁴³ तिलक उसे कर्मयोग-शास्त्र कहते हैं। वे लिखते हैं कि यह निर्विवाद सिद्ध है कि गीता में योग शब्द प्रवृत्ति-मार्ग अर्थात् कर्मयोग के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है।⁴⁴ श्री रामानुजाचार्य, निम्बार्क और श्री वल्लभाचार्य के अनुसार, गीता का प्रतिपाद्य विषय भक्तियोग है।⁴⁵ गांधीजी उसे अनासक्तियोग कहकर कर्म और भक्ति का समन्वय करते हैं। डॉ. राधाकृष्णन् उसमें प्रतिपादित ज्ञान, भक्ति और कर्मयोग को एक-दूसरे का पूरक मानते हैं।⁴⁶

लेकिन, गीता में योग का यथार्थ स्वरूप क्या है, इसका उत्तर गीता के गम्भीर अध्ययन से मिल जाता है। गीताकार ज्ञानयोग, कर्मयोग, और भक्तियोग शब्दों का उपयोग करता है, लेकिन समस्त गीताशास्त्र में योग की दो ही व्याख्याएँ मिलती हैं - 1. समत्वं योग उच्यते (2/48) और 2. योगः कर्मसु कौशलम् (2/50), अतः इन दोनों व्याख्याओं के आधार पर ही यह निश्चित करना होगा कि गीताकार की दृष्टि में योग शब्द का यथार्थ स्वरूप क्या है? गीता की पुष्पिका से प्रकट है कि गीता एक योगशास्त्र है, अर्थात् वह यथार्थ को आदर्श से जोड़ने की कला है, आदर्श और यथार्थ में सन्तुलन लाती है। हमारे भीतर का असन्तुलन दो स्तरों पर है, जीवन में दोहरा संघर्ष चल रहा है। एक चेतना की शुभ और अशुभ पक्षों में और दूसरा हमारे बहिर्मुखी स्व और बाह्य वातावरण के मध्य। गीता योग की इन दो व्याख्याओं के द्वारा इन दोनों संघर्षों में विजयश्री प्राप्त करने का संदेश देती है। संघर्ष के उस रूप की, जो हमारी चेतना के ही शुभ या अशुभ पक्ष में या हमारी आदर्शात्मक और वासनात्मक-आत्मा के मध्य चल रहा है, पूर्णतः समाप्ति के लिए मानसिक-समत्व की आवश्यकता होगी। यहाँ योग का अर्थ है 'समत्वयोग', क्योंकि इस स्तर पर कर्म की कोई आवश्यकता नहीं है। यहाँ योग हमारी वासनात्मक आत्मा को परिष्कृत कर उसे आदर्शात्मा या परमात्मा से जोड़ने की कला है। यह योग आध्यात्मिक-योग है, मन की स्थिरता है, विकल्पों एवं विकारों की शून्यता है। यहाँ पर योग का लक्ष्य हमारे अपने ही अन्दर है। यह एक आन्तरिक समायोजन है, वैचारिक एवं मानसिक-समत्व है, लेकिन उस संघर्ष की समाप्ति के लिए, जो कि व्यक्ति और उसके वातावरण के मध्य है, कर्म-योग की आवश्यकता

होगी। यहाँ योग की व्याख्या होगी 'योगः कर्मसु कौशलम्', यहाँ योग युक्ति है, उपाय है, जिसके द्वारा व्यक्ति वातावरण में निहित अपने भौतिक लक्ष्य की प्राप्ति करता है। यह योग का व्यावहारिक-पक्ष है, जिसमें जीवन के व्यावहारिक-स्तर पर समायोजन किया जाता है।

वस्तुतः, मनुष्य न निरी आध्यात्मिक-सत्ता है और न निरी भौतिक-सत्ता है, उसमें शरीर के रूप में भौतिकता है और चेतना के रूप में आध्यात्मिकता है। यह भी सही है कि मनुष्य ही जगत् में एक ऐसा प्राणी है, जिसमें जड़ पर चेतन के शासन का सर्वाधिक विकास हुआ है। फिर भी, मानवीय-चेतना को जिस भौतिक आवरण में रहना पड़ रहा है, वह उसकी नितांत अवहेलना नहीं कर सकती। यही कारण है कि मानवीय-चेतना को दो स्तरों पर समायोजन करना होता है - 1. चैतसिक (आध्यात्मिक) स्तर पर और 2. भौतिक स्तर पर। गीताकार द्वारा प्रस्तुत योग की उपर्युक्त दो व्याख्याएँ क्रमशः इन दो स्तरों के सन्दर्भ में हैं। वैचारिक या चैतसिक-स्तर पर जिस योग की साधना व्यक्ति को करनी है, वह समत्वयोग है। भौतिक-स्तर पर जिस योग की साधना का उपदेश गीता में है, वह कर्म-कौशल का योग है।

तिलक ने गीता और अन्य ग्रन्थों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि योग शब्द का अर्थ युक्ति, उपाय और साधन भी है⁴⁷। चाहे हम योग शब्द का अर्थ जोड़ने वाले⁴⁸ स्वीकारें या तिलक के अनुसार युक्ति या उपाय मानें⁴⁹, दोनों ही स्थितियों में योग शब्द साधन के अर्थ में ही प्रयुक्त किया जाता है, लेकिन योग शब्द केवल साधन के अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है। जब हम योग शब्द का अर्थ मनःस्थिरता⁵⁰ करते हैं, तो वह साधन के रूप में नहीं होता है, वरन् वह स्वतः साध्य ही होता है। यह मानना भ्रमपूर्ण होगा कि गीता में चित्त-समाधि या समत्व के अर्थ में योग शब्द का प्रयोग नहीं है। स्वयं तिलकजी ही लिखते हैं कि गीता में योग, योगी, अथवा योग शब्द से बने हुए सामासिक-शब्द लगभग अस्सी बार आए हैं, परन्तु चार पाँच स्थानों के सिवा (6/12-23) योग शब्द से 'पातंजल योग' (योगश्चित्तवृत्ति निरोधः) अर्थ कहीं भी अभिप्रेत नहीं है - सिर्फ युक्ति, साधन, कुशलता, उपाय, जोड़, मेल, यही अर्थ कुछ हेर-फेर से समूची गीता में पाए जाते हैं⁵¹। इससे इतना तो सिद्ध हो ही जाता है कि गीता में योग शब्द मन की स्थिरता या समत्व के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है, साथ ही यह भी सिद्ध हो जाता है कि गीता दो अर्थों में योग शब्द का उपयोग करती है, एक साधन के अर्थ में, दूसरे, साध्य के अर्थ में। जब गीता योग शब्द की व्याख्या 'योगः कर्मसु कौशलम्' के अर्थ में करती है, तो यह साधन-योग की व्याख्या है। वस्तुतः, हमारे भौतिक-स्तर पर अथवा चेतना और भौतिक जगत् (व्यक्ति और वातावरण) के मध्य जिस समायोजन की आवश्यकता है, वहाँ पर योग शब्द का यही अर्थ विवक्षित है। तिलक भी लिखते हैं, एक ही कर्म को करने के अनेक योग या उपाय हो सकते हैं, परन्तु उनमें से जो उपाय या साधन उत्तम हो, उसी को योग कहते हैं⁵²। योगः कर्मसु कौशलम् की व्याख्या भी यही कहती है कि कर्म में कुशलता योग है। किसी क्रिया या कर्म को कुशलतापूर्वक सम्पादित करना योग है। इस

व्याख्या से यह भी स्पष्ट है कि इसमें योग कर्म का एक साधन है, जो उसकी कुशलता में निहित है, अर्थात् योग कर्म के लिए है। गीता की योग शब्द की दूसरी व्याख्या 'समत्वं योग उच्यते' का सीधा अर्थ यही है कि 'समत्व को योग कहते हैं।' यहाँ पर योग साधन नहीं, साध्य है। इस प्रकार, गीता योग शब्द की द्विविध व्याख्या प्रस्तुत करती है, एक साधन-योग की और दूसरी साध्य-योग की। इसका अर्थ यह भी है कि योग दो प्रकार का है - 1. साधन-योग और 2. साध्य-योग। गीता जब ज्ञानयोग, कर्मयोग या भक्तियोग का विवेचन करती है, तो ये उसकी साधन-योग की व्याख्याएँ हैं। साधन अनेक हो सकते हैं, ज्ञान, कर्म और भक्ति-सभी साधन-योग है, साध्य-योग नहीं, लेकिन समत्वयोग साध्य-योग है। यह प्रश्न फिर भी उठाया जा सकता है कि समत्व-योग को ही साध्य-योग क्यों माना जाए, वह भी साधन-योग क्यों नहीं हो सकता है? इसके लिए हमारे तर्क इस प्रकार हैं -

1. ज्ञान, कर्म, भक्ति और ध्यान सभी 'समत्व' के लिए होते हैं, क्योंकि यदि ज्ञान, कर्म, भक्ति या ध्यान स्वयं साध्य होते, तो इनकी यथार्थता या शुभत्व स्वयं इनमें ही निहित होता, लेकिन गीता यह बताती है कि बिना समत्व के ज्ञान, यथार्थ ज्ञान नहीं बनता, जो समत्वदृष्टि रखता है, वही ज्ञानी है⁵³, बिना समत्व के कर्म अकर्म नहीं बनता। समत्व के अभाव में कर्म का बन्धकत्व बना रहता है, लेकिन जो सिद्धि और असिद्धि में समत्व से युक्त होता है, उसके लिए कर्म बन्धक नहीं बनते⁵⁴। इसी प्रकार, वह भक्त भी सच्चा भक्त नहीं है, जिसमें समत्व का अभाव है, समत्वभाव से यथार्थ भक्ति की उपलब्धि होती है⁵⁵।

समत्व के आदर्श से युक्त होने पर ही ज्ञान, कर्म और भक्ति अपनी यथार्थता को पाते हैं। समत्व वह 'सार' है, जिसकी उपस्थिति में ज्ञान, कर्म और भक्ति का कोई मूल्य या अर्थ है। वस्तुतः, ज्ञान, कर्म और भक्ति जब तक समत्व से युक्त नहीं होते हैं, उनमें समत्व की अवधारणा नहीं होती है, तब तक ज्ञान मात्र ज्ञान रहता है, वह ज्ञानयोग नहीं होता, कर्म मात्र कर्म रहता है, कर्मयोग नहीं बनता और भक्ति भी मात्र श्रद्धा या भक्ति ही रहती है, वह भक्तियोग नहीं बनती है, क्योंकि इन सबमें हममें निहित परमात्मा से जोड़ने की सामर्थ्य नहीं आती। 'समत्व' ही वह शक्ति है, जिससे ज्ञान ज्ञानयोग के रूप में, भक्ति भक्तियोग के रूप में और कर्म कर्मयोग के रूप में बदल जाता है। जैन-परम्परा में भी ज्ञान, दर्शन (श्रद्धा) और चारित्र (कर्म) जब तक समत्व से युक्त नहीं होते, सम्यक् नहीं बनते और जब तक ये सम्यक् नहीं बनते, तब तक मोक्षमार्ग के अंग नहीं होते हैं।

2. गीता के अनुसार, मानव का साध्य परमात्मा की प्राप्ति है और गीता का परमात्मा या ब्रह्म 'सम' है⁵⁶। जिनका मन 'समभाव' में स्थित है, वे तो संसार में रहते हुए भी मुक्त हैं, क्योंकि ब्रह्म भी निर्दोष एवं सम है। वे उसी समत्व में स्थित हैं, जो ब्रह्म है और इसलिए वे ब्रह्म में ही हैं।⁵⁷ इसे स्पष्ट रूप में यों कह सकते हैं कि जो 'समत्व' में स्थित हैं, वे ब्रह्म में स्थित हैं, क्योंकि 'सम'

10 : समत्वयोग और अन्य योग

ही ब्रह्म है। गीता में ईश्वर के इस समत्व-रूप का प्रतिपादन है। नौवें अध्याय में कृष्ण कहते हैं कि मैं सभी प्राणियों में 'सम' के रूप में स्थित हूँ⁵⁸। तेरहवें अध्याय में कहा है कि सम-रूप परमेश्वर सभी प्राणियों में स्थित है, प्राणियों के विनाश से भी उसका नाश नहीं होता है, जो इस समत्व के रूप में उसको देखता है, वही वास्तविक ज्ञानी है, क्योंकि सभी में समरूप में स्थित परमेश्वर को समभाव से देखता हुआ वह अपने द्वारा अपना ही घात नहीं करता, अर्थात् अपने समत्वमय या वीतराग स्वभाव को नष्ट नहीं होने देता और मुक्ति प्राप्त कर लेता है।⁵⁹

3. गीता के छठवें अध्याय में परमयोगी के स्वरूप के वर्णन में यह धारणा और भी स्पष्ट हो जाती है। गीताकार जब कभी ज्ञान, कर्म या भक्तियोग में तुलना करता है, तो वह उनकी तुलनात्मक श्रेष्ठता या कनिष्ठता का प्रतिपादन करता है, जैसे कर्म-संन्यास से कर्मयोग श्रेष्ठ है⁶⁰, भक्तों में ज्ञानी-भक्त मुझे प्रिय हैं⁶¹।

लेकिन, वह न तो ज्ञानयोगी को परमयोगी कहता है, न कर्मयोगी को परमयोगी कहता है और न भक्त को ही परमयोगी कहता है, वरन् उसकी दृष्टि में परमयोगी तो वह है, जो सर्वत्र समत्व का दर्शन करता है⁶²। गीताकार की दृष्टि में योगी की पहचान तो समत्व ही है। वह कहता है, "योग से युक्त आत्मा वही है, जो समदर्शी है।"⁶³ समत्व की साधना करनेवाला योगी ही सच्चा योगी है। चाहे साधन के रूप में ज्ञान, कर्म या भक्ति हो, यदि उनसे समत्व नहीं आता, तो वे योग नहीं हैं।

4. गीता का यथार्थ योग समत्व-योग है, इस बात की सिद्धि का एक अन्य प्रमाण भी है। गीता के छठवें अध्याय में अर्जुन स्वयं ही यह कठिनाई उपस्थित करता है कि हे कृष्ण! आपने यह समत्वभाव (मन की समता) रूप योग कहा है, मुझे मन की चंचलता के कारण इस समत्वयोग का कोई स्थिर आधार दिखलाई नहीं देता है⁶⁴, अर्थात् मन की चंचलता के कारण इस समत्व को पाना सम्भव नहीं है। इससे यही सिद्ध होता है कि गीताकार का मूल उपदेश तो इसी समत्व-योग का है, लेकिन यह समत्व मन की चंचलता के कारण सहज नहीं होता है, अतः मन की चंचलता को समाप्त करने के लिए ज्ञान, कर्म, तप, ध्यान और भक्ति के साधन बताए गए हैं। आगे श्रीकृष्ण जब यह कहते हैं कि हे अर्जुन! तपस्वी, ज्ञानी, कर्मकाण्डी सभी से योगी अधिक है, अतः तू योगी हो जा⁶⁵, तो यह और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है कि गीताकार का उद्देश्य ज्ञान, कर्म, भक्ति अथवा तप की साधना का उपदेश देना मात्र नहीं है। यदि ज्ञान, कर्म, भक्ति या तप-रूप साधना का प्रतिपादन करना ही गीताकार का अन्तिम लक्ष्य होता, तो अर्जुन को ज्ञानी, तपस्वी, कर्मयोगी या भक्त बनने का उपदेश दिया जाता, न कि योगी बनने का। दूसरे, यदि गीताकार का योग से तात्पर्य कर्मकौशल या कर्मयोग, ज्ञानयोग, तप (ध्यान) योग अथवा भक्तियोग ही होता, तो इनमें पारस्परिक तुलना होनी चाहिए थी, लेकिन इन सबसे भिन्न एवं श्रेष्ठ यह योग कौनसा है, जिसके श्रेष्ठत्व का प्रतिपादन गीताकार करता है एवं जिसे अंगीकार करने का

अर्जुन को उपदेश देता है ? वह योग समत्व-योग ही है, जिसके श्रेष्ठत्व का प्रतिपादन किया गया है। समत्व-योग में योग शब्द का अर्थ 'जोड़ना' नहीं है, क्योंकि ऐसी अवस्था में समत्व-योग भी साधन-योग होगा, साध्य-योग नहीं। ध्यान या समाधि भी समत्व-योग का साधन है।⁶⁶

गीता में समत्व का अर्थ

गीता के समत्व-योग को समझने के लिए यह देखना होगा कि समत्व का गीता में क्या अर्थ है ? आचार्य शंकर लिखते हैं कि समत्व का अर्थ तुल्यता है, आत्मवत्-दृष्टि है, जैसे मुझे सुख प्रिय एवं अनुकूल है और दुःख अप्रिय एवं प्रतिकूल है। इस प्रकार, जो सब प्राणियों में अपने ही समान सुख एवं दुःख को तुल्यभाव से अनुकूल एवं प्रतिकूल रूप में देखता है, किसी के भी प्रतिकूल आचरण नहीं करता, वही समदर्शी है। सभी प्राणियों के प्रति आत्मवत्-दृष्टि रखना समत्व है,⁶⁷ लेकिन समत्व न केवल तुल्यदृष्टि या आत्मवत्-दृष्टि है, वरन् मध्यस्थदृष्टि, वीतराग-दृष्टि एवं अनासक्त-दृष्टि भी है। सुख-दुःख आदि जीवन के सभी अनुकूल और प्रतिकूल संयोगों में समभाव रखना, मान और अपमान, सिद्धि और असिद्धि में मन का विचलित नहीं होना, शत्रु और मित्र-दोनों में माध्यस्थवृत्ति, आसक्ति और राग-द्वेष का अभाव ही समत्वयोग है। वैचारिक-दृष्टि से पक्षाग्रह एवं संकल्प-विकल्पों से मानस का मुक्त होना ही समत्व है।

गीता में समत्व-योग की शिक्षा

गीता में अनेक स्थलों पर समत्व-योग की शिक्षा दी गई है। श्रीकृष्ण कहते हैं, हे अर्जुन ! जो सुख-दुःख में समभाव रखता है, उस धीर (समभावी) व्यक्ति को इन्द्रियों के सुख-दुःखादि विषय व्याकुल नहीं करते, वह मोक्ष या अमृतत्व का अधिकारी होता है।⁶⁸ सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय आदि में समत्वभाव धारण कर, फिर यदि तू युद्ध करेगा, तो पाप नहीं लगेगा, क्योंकि जो समत्व से युक्त होता है, उससे कोई पाप ही नहीं होता है।⁶⁹ हे अर्जुन ! आसक्ति का त्याग कर, सिद्धि एवं असिद्धि में समभाव रखकर, समत्व से युक्त हो, तू कर्मों का आचरण कर, क्योंकि यह समत्व ही योग है।⁷⁰ समत्व-बुद्धियोग से सकाम-कर्म अति तुच्छ है, इसलिए हे अर्जुन !, समत्व-बुद्धियोग का आश्रय ले, क्योंकि फल की वासना, अर्थात् आसक्ति रखनेवाले अत्यन्त दीन है।⁷¹ समत्व-बुद्धि से युक्त पुरुष पाप और पुण्य-दोनों से अलिप्त रहता है (अर्थात् समभाव होने पर कर्म बन्धनकारक नहीं होते), इसलिए समत्व-बुद्धियोग के लिए ही चेष्टा कर, समत्वबुद्धिरूप योग ही कर्म-बन्धन से छूटने का उपाय है, पाप-पुण्य से बचकर अनासक्त एवं साम्यबुद्धि से कर्म करने की कुशलता ही योग है।⁷² जो स्वाभाविक उपलब्धियों में सन्तुष्ट है, राग-द्वेष एवं ईर्ष्या से रहित निर्द्वन्द्व एवं सिद्धि-असिद्धि में समभाव से युक्त है, वह जीवन के सामान्य व्यापारों को करते हुए भी बन्धन में नहीं आता है।⁷³ हे अर्जुन ! अनेक प्रकार के सिद्धान्तों से विचलित तेरी बुद्धि जब समाधियुक्त हो निश्चल एवं स्थिर हो जाएगी, तब तू समत्वयोग को प्राप्त हो जाएगा।⁷⁴ जो भी प्राणी अपनी वासनात्मक-आत्मा को

जीतकर शीत और उष्ण, मान और अपमान, सुख और दुःख जैसी विरोधी स्थितियों में भी सदैव प्रशान्त रहता है, अर्थात् समभाव रखता है, वह परमात्मा में स्थित है।⁷⁵ जिसकी आत्मा तत्त्वज्ञान एवं आत्मज्ञान से तृप्त है, जो अनासक्त एवं संयमी है, जो लौह एवं कांचन-दोनों में समानभाव रखता है, वही योगी योग (समत्व-योग) से युक्त है, ऐसा कहा जाता है।⁷⁶ जो व्यक्ति सुहृदय, मित्र, शत्रु, तटस्थ, मध्यस्थ, द्वेषी एवं बन्धु में तथा धर्मात्मा एवं पापियों में समभाव रखता है, वही अति श्रेष्ठ है, अथवा वही मुक्ति को प्राप्त करता है।⁷⁷ जो सभी प्राणियों को अपनी आत्मा में एवं अपनी आत्मा को सभी प्राणियों में देखता है, अर्थात् सभी को समभाव से देखता है, वही युक्तात्मा है।⁷⁸ जो सुख-दुःखादि अवस्थाओं में सभी प्राणियों को अपनी आत्मा के समान समभाव से देखता है, वही परमयोगी है।⁷⁹ जो अपनी इन्द्रियों के समूह को भलीभांति संयमित करके सर्वत्र समत्वबुद्धि से सभी प्राणियों के कल्याण में निरत है, वह परमात्मा को ही प्राप्त कर लेता है।⁸⁰ जो न कभी हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है, न कामना करता है तथा जो शुभ और अशुभ सम्पूर्ण कर्मों में फल का त्यागी है, वह भक्तियुक्त पुरुष मुझे प्रिय है।⁸¹ जो पुरुष शत्रु-मित्र में और मान-अपमान में सम है तथा सदी-गर्मी और सुख-दुःखादि द्वन्द्वों में सम है और सब संसार में आसक्ति से रहित है⁸² तथा जो निन्दा-स्तुति को समान समझने वाला और मननशील है अर्थात् ईश्वर के स्वरूप का निरन्तर मनन करने वाला है एवं जिस किस प्रकार से भी मात्र शरीर क निर्वाह होने में सदा ही सन्तुष्ट है और रहने के स्थान में ममता से रहित है, वह स्थिर-बुद्धिवाला, भक्तिमान् पुरुष मुझे प्रिय है।⁸³ इस प्रकार जानकर, जो पुरुष नष्ट होते हुए सब चराचर भूतों में नाशरहित परमेश्वर को, समभाव से स्थित देखता है, वह वही देखता है,⁸⁴ क्योंकि वह पुरुष सबमें समभाव से स्थित हुए परमेश्वर को देखता हुआ अपने द्वारा आपको नष्ट नहीं करता है, अर्थात् शरीर का नाश होने से अपनी आत्मा का नाश नहीं मानता है, इससे वह परमगति को प्राप्त होता है।⁸⁵

समत्व के अभाव में ज्ञान-यथार्थ ज्ञान नहीं है, चाहे वह ज्ञान कितना ही विशाल क्यों न हा। वह ज्ञान योग नहीं है। समत्व-दर्शन यथार्थ ज्ञान का अनिवार्य अंग है। समदर्शी ही सच्चा पण्डित या ज्ञानी है।⁸⁶ ज्ञान की सार्थकता और ज्ञान का अन्तिम लक्ष्य समत्व-दर्शन है।⁸⁷ समत्वमय ब्रह्म या ईश्वर, जो हम सब में निहित है, उसका बोध कराना ही ज्ञान और दर्शन की सार्थकता है। इसी प्रकार, समत्व-भावना के उदय से भक्ति का सच्चा स्वरूप प्रकट होता है। जो समदर्शी होता है, वह परम भक्ति को प्राप्त करता है। गीता के अठारहवें अध्याय में कृष्ण ने स्पष्ट कहा है कि जो समत्व-भाव में स्थित होता है, वह मेरी परमभक्ति को प्राप्त करता है।⁸⁸ बारहवें अध्याय में सच्चे भक्त का लक्षण भी समत्व-वृत्ति का उदय माना गया है।⁸⁹ जब समत्वभाव का उदय होता है, तभी व्यक्ति का कर्म अकर्म बनता है। समत्व-वृत्ति से युक्त होकर किया गया कोई भी आचरण बन्धनकारी नहीं होता, उस आचरण से व्यक्ति पाप को प्राप्त नहीं होता।⁹⁰ इस

समत्वयोग और अन्य योग : 13

प्रकार, ध्यान-योग का परम साध्य भी वैचारिक-समत्व है। समाधि की एक परिभाषा यह भी हो सकती है कि जिसके द्वारा चित्त का समत्व प्राप्त किया जाता है, वह समाधि है।⁹¹

ज्ञान, कर्म, भक्ति और ध्यान, सभी समत्व को प्राप्त करने के लिए हैं। जब वे समत्व ये युक्त हो जाते हैं, तब अपने सच्चे स्वरूप को प्रकट करते हैं। ज्ञान यथार्थ ज्ञान बन जाता है, भक्ति परमभक्ति हो जाती है, कर्म अकर्म हो जाता है और ध्यान निर्विकल्प समाधि का लाभ कर लेता है।

5. समत्वयोग का व्यवहार-पक्ष

समत्वयोग का तात्पर्य चेतना का संघर्ष या द्वन्द्व से अग्र उठ जाना है। वह निराकुल, निर्द्वन्द्व और निर्विकल्प दशा का सूचक है। समत्व-योग जीवन के विविध पक्षों में एक ऐसा सांग-सन्तुलन है, जिसमें न केवल चैतसिक एवं वैयक्तिक-जीवन के संघर्ष समाप्त होते हैं, वरन् सामाजिक-जीवन के संघर्ष भी समाप्त हो जाते हैं, शर्त यह है कि समाज के सभी सदस्य उसकी साधना में प्रयत्नशील हों।

समत्वयोग में इन्द्रियाँ अपना कार्य तो करती हैं, लेकिन उनमें भोगासक्ति नहीं होती है और न इन्द्रियों के विषयों की अनुभूति चेतना में राग और द्वेष को जन्म देती है। चिन्तन तो होता है, किन्तु उससे पक्षवाद और वैचारिक-दुराग्रहों का निर्माण नहीं होता। मन अपना कार्य तो करता है, लेकिन वह चेतना के सम्मुख जिसे प्रस्तुत करता है, उसे रंगीन नहीं बनाता है। आत्मा विशुद्ध द्रष्टा होता है। जीवन के सभी पक्ष अपना-अपना कार्य विशुद्ध रूप में बिना किसी संघर्ष के करते हैं।

मनुष्य का अपने परिवेश के साथ जो संघर्ष है, उसके कारण के रूप में जैविक-आवश्यकताओं की पूर्ति इतनी प्रमुख नहीं है, जितनी की व्यक्ति की भोगासक्ति। संघर्ष की तीव्रता आसक्ति की तीव्रता के साथ बढ़ती जाती है। प्रकृत-जीवन जीना न तो इतना जटिल है और न इतना संघर्षपूर्ण ही। व्यक्ति का आन्तरिक-संघर्ष, जो उसकी विभिन्न आकांक्षाओं और वासनाओं के कारण होता है, उसके पीछे भी व्यक्ति की तृष्णा या आसक्ति ही प्रमुख है।

इसी प्रकार, वैचारिक-जगत् का सारा संघर्ष आग्रह, पक्ष या दृष्टि के कारण है। वाद, पक्ष या दृष्टि एक ओर सत्य को सीमित करती है, दूसरी ओर आग्रह से सत्य के अन्य अनन्त पहलू आवृत्त रह जाते हैं। भोगासक्ति स्वार्थी की संकीर्णता को जन्म देती है और आग्रहवृत्ति वैचारिक-संकीर्णता को जन्म देती है। संकीर्णता, चाहे वह हितों की हो या विचारों की, संघर्ष को जन्म देती है। समस्त सामाजिक-संघर्षों के मूल में यही हितों की या विचारों की संकीर्णता काम कर रही है।

जब आसक्ति, लोभ या राग के रूप में पक्ष उपस्थित होता है, तो द्वेष या घृणा के रूप में प्रतिपक्ष भी उपस्थित हो जाता है। पक्ष और प्रतिपक्ष की यह उपस्थिति आन्तरिक-संघर्ष का

कारण होती है। समत्वयोग राग और द्वेष के द्वन्द्व से ऊपर उठाकर वीतरागता की ओर ले जाता है। वह आन्तरिक-सन्तुलन है। व्यक्ति के लिए यह आन्तरिक-सन्तुलन ही प्रमुख है। आन्तरिक-सन्तुलन की उपस्थिति में बाह्य जागतिक-विक्षोभ विचलित नहीं कर सकते हैं।

जब व्यक्ति आन्तरिक-सन्तुलन से युक्त होता है, तो उसके आचार-विचार और व्यवहार में भी वह सन्तुलन प्रकट हो जाता है। उसका कोई भी व्यवहार या आचार बाह्य असन्तुलन का कारण नहीं बनता है। आचार और विचार हमारे मन के बाह्य प्रकटन हैं, व्यक्ति के मानस का बाह्य-जगत् में प्रतिबिम्ब हैं। जिसमें आन्तरिक-सन्तुलन या समत्व है, उसके आचार और विचार भी समत्वपूर्ण होते हैं। इतना ही नहीं, वह विश्व-व्यवहार में एक सांग-सन्तुलन स्थापित करने के लिए भी प्रयत्नशील होता है, उसका सन्तुलित व्यक्तित्व विश्व-व्यवहार को प्रभावित भी करता है एवं उसके द्वारा सामाजिक-जीवन का निर्माण भी हो सकता है। फिर भी, सामाजिक-जीवन में ऐसा व्यक्तित्व एकमात्र कारक नहीं होता, अतः उसके प्रयास सदैव ही सफल हों, यह अनिवार्य नहीं है। सामाजिक-समत्व की संस्थापना समत्वयोग का साध्य तो है, लेकिन उसकी सिद्धि वैयक्तिक-समत्व पर नहीं, वरन् समाज के सभी सदस्यों के सामूहिक प्रयत्नों पर निर्भर है। फिर भी, समत्व योगी के व्यवहार से न तो सामाजिक-संघर्ष उत्पन्न होता है और न बाह्य-संघर्षों, क्षुब्धताओं और कठिनाइयों से वह अपने मानस को विचलित होने देता है। समत्वयोग का मूल केन्द्र आन्तरिक-सन्तुलन या समत्व है, जो कि राग और द्वेष के प्रहाण से उपलब्ध होता है।

समत्व-योग भारतीय-साधना का केन्द्रीय-तत्त्व है, लेकिन इस समत्व की उपलब्धि कैसे हो सकती है, यह विचारणीय है। सर्वप्रथम तो जैन, बौद्ध एवं गीता के आचार-दर्शन समत्व की उपलब्धि के लिए त्रिविध साधना-पथ का प्रतिपादन करते हैं। चेतना के ज्ञान, भाव और संकल्प-पक्ष को समत्व से युक्त या सम्यक् बनाने हेतु जहाँ जैन-दर्शन सम्यक्-ज्ञान, सम्यक्-दर्शन और सम्यक्-चारित्र का प्रतिपादन करता है, वहीं बौद्ध-दर्शन प्रज्ञा, शील और समाधि का और गीता ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग का प्रतिपादन करती है। केवल इतना ही नहीं, अपितु इन आचार-दर्शनों ने हमारे व्यावहारिक और सामाजिक-जीवन की समता के लिए भी कुछ दिशा-निर्देशक सूत्र प्रस्तुत किए हैं। हमारे व्यावहारिक-जीवन की विषमताएँ तीन हैं— 1. आसक्ति 2. आग्रह और 3. अधिकार-भावना। यही वैयक्तिक जीवन की विषमताएँ सामाजिक-जीवन में वर्ग-विद्वेष शोषकवृत्ति और धार्मिक एवं राजनीतिक-मतान्धता को जन्म देती है और परिणामस्वरूप हिंसा, युद्ध और वर्ग-संघर्ष पनपते हैं। इन विषमताओं के कारण उद्भूत संघर्षों को हम चार भागों में विभाजित कर सकते हैं—

(1) व्यक्ति का आन्तरिक-संघर्ष— जो आदर्श और वासना के मध्य है, यह इच्छाओं का संघर्ष है। इसे चैतसिक-विषमता कहा जा सकता है। इसका सम्बन्ध व्यक्ति स्वयं से है।

(2) व्यक्ति और वातावरण का संघर्ष— व्यक्ति अपनी शारीरिक-आवश्यकताओं और

समत्वयोग और अन्य योग : 15

अन्य इच्छाओं की पूर्ति बाह्य-जगत् में करता है। अनन्त इच्छा और सीमित पूर्ति के साधन इस संघर्ष को जन्म देते हैं, यह आर्थिक-संघर्ष अथवा मनोभौतिक-संघर्ष है।

(3) व्यक्ति और समाज का संघर्ष – व्यक्ति अपने अहंकार की तुष्टि समाज में करता है, उस अहंकार को पोषण देने के लिए अनेक मिथ्या विश्वासों का समाज में सृजन करता है। यहीं वैचारिक-संघर्ष का जन्म होता है। ऊँच-नीच का भाव, धार्मिक-मतान्धता और विभिन्न वाद उसी के परिणाम हैं।

(4) समाज और समाज का संघर्ष – जब व्यक्ति सामान्य हितों और सामान्य वैचारिक-विश्वासों के आधार पर समूह या गुट बनाता है, तो सामाजिक-संघर्षों का उदय होता है। इसका आधार आर्थिक और वैचारिक-दोनों ही हो सकता है।

समत्वयोग का व्यवहार-पक्ष और जैन-दृष्टि

जैसा कि हमने पूर्व में देखा कि इन समग्र संघर्षों का मूल हेतु आसक्ति, आग्रह और संग्रहवृत्ति में निहित है, अतः जैन-दार्शनिकों ने उनके निराकरण के हेतु अनासक्ति, अनाग्रह, अहिंसा तथा असंग्रह के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। वस्तुतः, व्यावहारिक-दृष्टि से चित्तवृत्ति का समत्व अनासक्ति या वीतरागता में, बुद्धि का समत्व अनाग्रह या अनेकान्त में और आचरण का समत्व अहिंसा एवं अपरिग्रह में निहित है। अनासक्ति, अनेकान्त, अहिंसा और अपरिग्रह के सिद्धान्त ही जैनदर्शन में समत्वयोग की साधना के चार आधार-स्तम्भ हैं। जैन-दर्शन के समत्वयोग की साधना को व्यावहारिक-दृष्टि से निम्न प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है –

समत्वयोग के निष्ठासूत्र

(अ) संघर्ष के निराकरण का प्रयत्न ही जीवन के विकास का सच्चा अर्थ – समत्व-योग का पहला सूत्र है-संघर्ष नहीं, संघर्ष या तनाव को समाप्त करना ही वैयक्तिक एवं सामाजिक-जीवन की प्रगति का सच्चा स्वरूप है। अस्तित्व के लिए संघर्ष के स्थान पर जैन-दर्शन संघर्ष के निराकरण में अस्तित्व का सूत्र प्रस्तुत करता है। जीवन संघर्ष में नहीं, वरन् उसके निराकरण में है। जैन-दर्शन न तो इस सिद्धान्त में आस्था रखता है कि जीवन के लिए संघर्ष आवश्यक है और न यह मानता है कि 'जीओ और जीने दो' का नारा ही पर्याप्त है। उसका सिद्धान्त है-जीवन के लिए जीवन का विनाश नहीं, वरन् जीवन के द्वारा जीवन का विकास या कल्याण (परस्परपत्रहो जीवानाम् – तत्त्वार्थसूत्र) जीवन का नियम संघर्ष का नियम नहीं, वरन् सहकार का नियम है।

(ब) सभी मनुष्यों की मौलिक समानता पर आस्था – आत्मा की दृष्टि से सभी प्राणी समान हैं, यह जैनदर्शन की प्रमुख मान्यता है। इसके साथ ही जैन-आचार्यों ने मानव-जाति की एकता को भी स्वीकार किया है। वर्ण, जाति, सम्प्रदाय और आर्थिक-आधारों पर मनुष्यों में भेद करना मनुष्यों की मौलिक-समता को दृष्टि से ओझल करना है। सभी मनुष्य, मनुष्य – समाज में

16 : समत्वयोग और अन्य योग

समान अधिकारों से युक्त हैं। यह निष्ठा साम्ययोग के सामाजिक-सन्दर्भ का आवश्यक अंग है। इसके मूल में सभी मनुष्यों को समान अधिकार से युक्त समझने की धारणा रही हुई है। यह सामाजिक-न्याय का आधार है, जो सामाजिक-संघर्ष को समाप्त करता है।

समत्वयोग के क्रियान्वयन के चार सूत्र –

(1) **वृत्ति में अनासक्ति** – अनासक्त जीवन-दृष्टि का निर्माण-यह समत्वयोग की साधना का प्रथम सूत्र है। अहंकार, ममत्व और तृष्णा का विसर्जन समत्व के सर्जन के लिए आवश्यक है। अनासक्त-वृत्ति में ममत्व और अहंकार-दोनों का पूर्ण समर्पण आवश्यक है। जब तक अहम् और ममत्व बना रहेगा, समत्व की उपलब्धि संभव नहीं होगी, क्योंकि राग के साथ द्वेष अपरिहार्य रूप से जुड़ा हुआ है। जितना अहम् और ममत्व का विसर्जन होगा, उतना ही समत्व का सर्जन होगा। अनासक्ति चैतसिक-संघर्ष का निराकरण करती है एवं चैतसिक-समत्व का आधार है। बिना चैतसिक-समत्व के सामाजिक-जीवन में साम्य की उद्भावना नहीं हो सकती।

(2) **विचार में अनाग्रह** – जैनदर्शन के अनुसार आग्रह एकांत है और इसलिए मिथ्यात्व भी है। वैचारिक-अनाग्रह समत्वयोग की एक अनिवार्यता है। आग्रह वैचारिक-हिंसा भी है, वह दूसरे के सत्य को अस्वीकार करता है तथा समग्र वैचारिक-सम्प्रदायों एवं वादों का निर्माण कर वैचारिक-संघर्ष की भूमिका तैयार करता है, अतः वैचारिक-समन्वय और वैचारिक-अनाग्रह समत्वयोग का एक अपरिहार्य अंग है। यह वैचारिक-संघर्ष को समाप्त करता है। जैनदर्शन इसे अनेकान्तवाद या स्याद्वाद के रूप में प्रस्तुत करता है।

(3) **वैयक्तिक-जीवन में असंग्रह** – अनासक्त-वृत्ति को व्यावहारिक-जीवन में उतारने के लिए असंग्रह आवश्यक है। यह वैयक्तिक-अनासक्ति का समाज-जीवन में व्यक्ति के द्वारा दिया गया प्रमाण है और सामाजिक-समता के निर्माण की आवश्यक कड़ी भी है। सामाजिक-जीवन में आर्थिक-विषमता का निराकरण असंग्रह की वैयक्तिक-साधना के माध्यम से ही सम्भव है।

(4) **सामाजिक-आचरण में अहिंसा** – जब पारस्परिक-व्यवहार अहिंसा पर अधिष्ठित होगा, तभी सामाजिक-जीवन में शांति और साम्य सम्भव होंगे। जैनदर्शन के अनुसार, अहिंसा का मूल आधार आत्मवत्-दृष्टि है और अहिंसा की व्यवहार्यता अनासक्ति पर निर्भर है। वृत्ति में जितनी अनासक्ति होगी, व्यवहार में उतनी ही अहिंसा प्रकट होगी। जैन आचार्यों की दृष्टि में अहिंसा केवल निषेधात्मक नहीं है, वरन् वह विधायक भी है। मैत्री और करुणा उसके विधायक पहलू हैं। अहिंसा सामाजिक-संघर्ष का निराकरण करती है।

इस प्रकार, जैनदर्शन के अनुसार वृत्ति में अनासक्ति, विचार के अनेकान्त, अनाग्रह,

समत्वयोग और अन्य योग : 17

वैयक्तिक-जीवन में असंग्रह और सामाजिक-जीवन में अहिंसा, यही समत्वयोग की साधना का व्यवहारिक-पक्ष है।

सन्दर्भ ग्रन्थ -

1. Beyond the Pleasure Principle-S. Freud, उद्धृत-अध्यात्मयोग और चित्त-विकलन, पृ. 246, 2. आचारांग, 1/3/2/114, 3. गीता 4/12, 4. वही, 7/27-28, 5. वही. 15/5, 6. आवश्यकनिर्युक्ति 796, 7. प्रवचनसार, 1/5, 8. समदर्शी आचार्य हरिभद्र, पृ. 86, 9. सेयम्बरो वा आसम्बरो वा बुद्धो वा तहेव अन्नो वा समभावभावियप्पा लहइ मुक्खं न सदेहो ॥ - हरिभद्र 10-13. सामायिक सूत्र (अमरमुनि) पृ. 63 पर उद्धृत, 14-15. योगशास्त्र, 4/50-53, 16-17. योगशास्त्र, 4/50-53, 18. (अ) सामायिकसूत्र (अमरमुनिजी), पृ. 27-28 (ब) विशेषावश्यकभाष्य - 3477-3483, 19. नियमसार, 122-133, 20. अनुयोगद्वार, 127-128, 21. आचारांग, 1/8/3/2, 22. वही, 1/8/8/4, 23. वही, 1/8/8/14, 24. वही, 2/3/1, 25. वही, 1/8/8/11, 26. प्रश्नव्याकरणसूत्र, 2/4, 27. उत्तराध्ययन 25/32, 28. बोधपाहुड, 47, 29. आवश्यकनिर्युक्ति, 804, 30. नियमसार, 104, 31. भगवतीसूत्र, 7/8, 32. सूत्रकृतांगचूर्णि, 1/2/2, 33. संयुक्तनिकाय, 1/1/8, 34. वही. 1/2/6, 35. धम्मपद, 142, 36. मज्झिमनिकाय, 3/40/2, 37. धम्मपद 388 तुलना कीजिए - उत्तराध्ययन, 25/32, 38. सुत्तनिपात, 3/37/7, 39. उदान, 8/6, 40. युज्यते एतदिति योगः, युज्यते अनेन इति योगः, तस्मिन् इति योगः 41. योगसूत्र, 1/2, 42. भगवद्गीता (रा.) पृ. 55, 43. गीता (शां.), 2/11, 44. गीतारहस्य, पृ. 60, 45. गीता (रामा.), 1/1 पूर्व कथन, 46. भगवद्गीता (रा.), पृ. 82, 47. अमरकोश, 3/3/22, गीतारहस्य, पृ. 56-59, 48. योगसूत्र, 1/2, 49-50. गीता (शां.) 10/7, 51-52. गीतारहस्य, पृ.-57, 53. गीता, 5/18, 54. वही, 4/22, 55. वही, 8/54, 56. वही, 5/19, गीता (शां) 5/18, 57. गीता, 5/19., 58. गीता, 9/29, 59. वही, 13/27-28, 60. वही, 5/2, 61. वही, 7/17, 62. वही. 6/32, 63. वही, 6/29, 64. वही, 6/32, 65. वही, 6/46, 66. गीता 2/43, 67. गीता (शां.), 6/32, 68. गीता 2/15, 69. वही. 2/38, तुलना कीजिए - आचारांग, 1/3/2, 70. गीता 2/48, 71. वही, 2/49, 72. वही, 2/50, 73. वही, 4/23, 74. वही, 2/53, 75. वही, 6/7, 76. वही, 6/8, 77. वही, 6/9 (पाठान्तर-विमुच्यते), 78. वही, 6/29, 79. वही, 6/32, 80. वही, 12/4, 81. वही, 12/17, 82. वही 6/7, 83. गीता 12/19, 84. वही, 13/27, 85. वही, 13/28, 86. वही, 5/18, 87. वही, 13/27-28, 88. वही, 18/54, 89. वही, 12/17-19, 90. वही, 2/38, 91. वही, 2/53

18 : समत्वयोग और अन्य योग

जैन-योग और अन्य-योग

भारतीय मूल के अन्य धर्मों की तरह जैनधर्म भी योग और ध्यान को आध्यात्मिक उन्नति और विकास का अत्यन्त महत्वपूर्ण साधन मानता है। 'उत्तराध्ययनसूत्र (28/35)'के अनुसार व्यक्ति सम्यग्ज्ञान द्वारा स्वयं की आत्मा की प्रकृति को जान सकता है, सम्यग्दर्शन या सम्यक्-अनुभूति द्वारा उस पर विश्वास कर सकता है। इसी तरह व्यक्ति सम्यक्-चरित्र द्वारा उस पर नियंत्रण या संयम कर सकता है, लेकिन आत्म-शुद्धि केवल सम्यक् तप के द्वारा ही की जा सकती है। जैन विचारधारा के अनुसार तप के दो प्रकार हैं- बाह्य और आन्तरिक। आन्तरिक तप के दो महत्वपूर्ण भेद हैं, जिनको (1) ध्यान अर्थात् एकाग्रता और (2) कायोत्सर्ग (त्याग) अर्थात् अपने शरीर और सांसारिक संबंधों के प्रति विराग-भाव कहा जाता है। जैन परम्परा के अनुसार आत्मोन्नति (Emancipation), जो कि हमारे जीवन का चरम लक्ष्य है, केवल शुक्ल-ध्यान के द्वारा ही प्राप्तव्य है, जो आत्म-सजगता (Self-awareness) या आत्म-ज्ञान की स्थिति है। इस प्रकार जैन विचारधारा के अनुसार आत्मोन्नति केवल ध्यान द्वारा सम्भव है, जो कि पतंजलि की योग-पद्धति का सप्तम् सोपान भी है। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि ध्यान और योग जैनधर्म के भी अनिवार्य अंग रहे हैं। समस्त जैन तीर्थकरों की मूर्तियाँ भी केवल ध्यानमुद्रा में ही पाई जाती हैं, किसी भी अन्य मुद्रा में नहीं हैं। इससे जैन विचारधारा में योग और ध्यान का महत्व स्वतः ही प्रकट हो जाता है।

यहाँ यह भी दृष्टव्य है कि सामान्यतः योग का परम लक्ष्य चित्तवृत्ति-निरोध है, जैन परम्परा में भी योग साधना का लक्ष्य योग नहीं, किन्तु अयोग ही है, अर्थात् मन, वाणी और काया की समस्त क्रियाओं का निरोध (भ्रंजपवद)। योगदर्शन में भी योग को चित्तवृत्ति निरोध ही कहा गया है (योगश्चित्तवृत्ति निरोध)। वर्तमान काल में जैनयोग परम्परा के विकास के संदर्भ में पं. सुखलाल जी ने अपनी 'समदर्शी हरिभद्र' नामक कृति में जैनयोग पर एक अध्याय लिखा है। प्रो. नथमल टांटिया ने भी अपने ग्रन्थ 'स्टडीज इन जैनफिलासफी' में जैनयोग और ध्यान पर पूरा एक अध्याय दिया है। विलियस जेम्स ने भी जैनयोग पर एक पुस्तक लिखी है, लेकिन इसमें उन्होंने जैन आचार शास्त्र पर ही विस्तार से चर्चा

की है, जैनयोग पर बहुत ही कम लिखा गया है। उनके अनुसार जैनयोग का अर्थ है, आत्मोन्नति (Emancipation) का साधना मार्ग। जैनयोग के विषय में प्रो. पद्मनाभ जैनी के ग्रन्थ 'जैन पाथ ऑफ प्यूरिफिकेशन' का भी उल्लेख किया जा सकता है।

आजकल हिन्दी में भी जैनयोग पर जो भी लिखा गया है, उसमें सर्वप्रथम और श्रेष्ठ ग्रन्थ है, मुनि नथमलजी, (आचार्य महाप्रज्ञजी) कृत जैनयोग। उन्होंने योग और प्रेक्षा ध्यान पर अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। ए.बी. दिगे का पी-एच. डी. का शोधप्रबन्ध भी जैनयोग पर ही है और जो पी.वी. रिसर्च इंस्टीट्यूट वाराणसी से प्रकाशित भी है।

यदि हम संक्षेप में जैनयोग के ऐतिहासिक विकास क्रम और उस पर अन्य भारतीय योग-पद्धतियों के प्रभाव के बारे में जानना चाहते हैं तो हमें जैनयोग पद्धति के विकास को निम्नांकित पाँच चरणों में विभाजित कर के देखना चाहिये— 1. आगम युग के पूर्व की स्थिति (ईसा पूर्व ६ठी शताब्दी), 2. आगमयुग (ई.पू. ५वी शती से ईसा की ५ वी शती), 3. मध्यकाल (ईसा की ६शती से १०वी शती), 4. तन्त्र एवं कर्मकाण्ड का युग (ईसा की १३वी शती से १६वी शती), 5. आधुनिकयुग।

1. आगमपूर्वयुग— भारत में योग और ध्यान की अवधारणा उतनी ही पुरातन है, जितनी कि स्वयमेव भारतीय संस्कृति है। अति प्राचीन काल से योग और ध्यान के संदर्भ में दो प्रकार के प्रमाण हमें मिलते हैं— 1. पुरातात्विक (Seculptural evidences) और 2. साहित्यिक (Literary)। प्रारम्भिक काल से ही योग और ध्यान के इन दोनों ही प्रकारों के प्रमाण उपलब्ध हैं, लेकिन यह कहना कठिन है कि ये योग और ध्यान के ये प्रमाण जैन-पद्धति का समर्थन करते हैं। हम केवल इतना कह सकते हैं, कि प्राचीन योग और ध्यान के ये संदर्भ भारतीय श्रमणसंस्कृति से जुड़े हुए हैं। जैन, बौद्ध आजीवक, सांख्य-योग तथा अन्य छोटी बड़ी श्रमण-परम्पराएँ इसी से उद्भूत हुई हैं। इसका कारण यह है कि ध्यान और योग को प्रत्येक भारतीय पद्धति में आधिकारिक रूप से अपनाया गया था। इसीलिये कतिपय जैन विद्वानों ने यह कहने का अतिसाहस भी किया है कि ये सन्दर्भ उनकी अपनी परम्परा के संदर्भ हैं। योग और ध्यान सम्बन्धी प्राचीन पुरातात्विक प्रमाण मोहनजोदडो और हरप्पा से मिले हैं। वहाँ खुदाई में कुछ ऐसी सीले मिली हैं, जिन पर योगी ध्यानमुद्रा में बैठे हुए या खड़े हुए दिखाये गये हैं। इससे

प्रमाणित होता है कि उस काल में ध्यान और योग का प्रचलन था। मोहनजोदड़ो और हरप्पा की संस्कृति भारत की श्रमणसंस्कृति की प्रारम्भिक स्थिति कही जा सकती है। यह स्पष्ट है कि जब वैदिक परम्परा में यज्ञ या बलिदान (बतपपिमि) का प्रचलन था, तब श्रमण-परम्परा के लोगो में योग और ध्यान की पद्धति अधिक रुचिकर थी। मेरा विचार है कि यह प्रारम्भिक श्रमण-परम्परा ही कुछ कालोपरान्त विभिन्न शाखाओं में विभाजित होगई, जैसे जैन, बौद्ध, सांख्य-योग, आजीवक तथा अन्य छोटे-छोटे श्रमण सम्प्रदाय। यद्यपि तत्कालीन उपनिषदीय परम्परा में श्रमण और वैदिक परम्परा के समन्वय का प्रयत्न हुआ था और वर्तमान में प्रचलित पंतजलि की योगपद्धति उसी समन्वय का प्रतिफल है, लेकिन हमें इस तथ्य पर अवश्य ध्यान देना चाहिये कि उसमें श्रमण परम्परा के लक्षण (Sramanic feature) प्रभावीरूप से प्रमुख (Dominating) हैं।

आगम पूर्व काल में जैनयोग और पंतजलि का अष्टांग योग -

इस प्राचीन काल में यानी आगम युग के पूर्व में जैनयोग पर अन्य योग-पद्धतियों के प्रभाव की खोज करना बहुत कठिन है, क्योंकि इस काल में हमें योग और ध्यान के किसी एक व्यवस्थित संगठन की जानकारी नहीं मिलती, सिवाय रामपुत्र के, जिनसे स्वयं भगवान बुद्ध ने ध्यान की कुछ पद्धतियाँ सीखी थी। यह जानना भी रुचिकर होगा कि रामपुत्र का उल्लेख कुछ प्राचीन स्तर के जैन ग्रंथों में भी उपलब्ध है— जैसे सूत्रकृतांग (3/62), अंतकृदाशांग, स्थानांग 10/113 और ऋषिभासित (23)।

मेरा विश्वास है कि वर्तमान की विपश्यना और प्रेक्षाध्यान की पद्धतियाँ भी मूलतः रामपुत्र की ध्यानसाधना पद्धति पर ही आधारित है।

2. आगमयुग

पारम्परिक रूप से तो यह माना जाता है कि जैनयोग और ध्यान-प्रक्रिया (Meditation Practices) का प्रारम्भ प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव से हुआ था। ऐतिहासिक दृष्टि से भी यौगिक साधना और ध्यान का आरम्भिक उल्लेख आचारांग, सूत्रकृतांग और ऋषिभाषित जैसे प्रारम्भिक जैन आगमों में भी मिलता है। आचारांग के 9वें अध्याय उपधानसूत्र में, भगवान महावीर द्वारा स्वयं अपनाई गई, ध्यान की त्राटक पद्धति का उल्लेख है। सूत्रकृतांग के 6ठें अध्याय में प्राचीन प्रेक्षा-ध्यान-पद्धति के भी संकेत है। उसमें भगवान महावीर को सर्वोत्तम ध्यानीसंत के रूप में प्रस्तुत किया गया है। उनको वास्तविक धार्मिक प्रक्रियाओं, मन की

स्थिरता (Steadeness of mind) प्रेक्षा और आत्म सजगता (self awarene) का अनुभव था। सूत्रकृताग के 8वें अध्याय में यह उल्लेख भी है कि आत्मोन्नति एवं मुक्ति (emancipation) के प्रमुख साधन हैं— ध्यान, योग और तितीक्षा।

योग और ध्यान की पूर्णता व्यक्ति की अपने शरीर के प्रति रही हुई आसक्ति के त्याग से हो सकती है (8/26) जिसे जैन विचार धारा में कायोत्सर्ग कहा जाता है। इस आगमिक काल में पतंजलि की योग की अष्टसोपान वाली पद्धति में से प्राणायाम को छोड़कर सप्त सोपानों का उल्लेख जैन आगमों में मिलता है। पतंजलि की यौगिक प्रक्रिया के निम्नांकित अष्ट सोपान हैं—

1. यम, (Vows) – व्रत
2. नियम, (upportunity Vow) – सहायक व्रत
3. आसन, (bodily Postures)— शारीरिक मुद्रा स्थितियाँ
4. प्राणायाम, (Contratting of resfiration)— श्वास का नियंत्रण
5. प्रत्याहार, (Contratting of souse organs) ज्ञानेन्द्रियों का नियंत्रण
6. धारणा, (Contratting of mentalactvition) मानसिक क्रियाओं का नियंत्रण
7. ध्यान, (Contratting of mind) मन की एकाग्रता
8. समाधि (Equaminilty of mind or ceas ation of mind) मन की समता या मन का निरोध

इस काल के जैन साहित्य में हमें जैनयोग साधना के जो सात अंग तो मिलते हैं, किन्तु वे कुछ भिन्न नामों से हैं। स्थानकवासी जैन सम्प्रदाय के आचार्य आत्मारामजी ने “जैन आगमों में अष्टांग योग” नामक पुस्तक में पतंजलि की योग-पद्धति के इन आठों अंगों का जैन योग-साधना पद्धति के साथ तुलनात्मक विवरण भी दिया है। उनके अनुसार पतंजलि के पाँच यमों को जैनियों में पाँच महाव्रतों के नाम से मान्य किया गया है।

पाँच महाव्रतों के नाम भी वही हैं और एक जैसे हैं, जैसे कि वे पतंजलि के योगसूत्र में हैं। जैन साधना में पाँच महाव्रत ये हैं— 1. अहिंसा 2. सत्य 3. अस्तेय 4. ब्रह्मचर्य और 5. अपरिग्रह। पतंजलि ने अपने योगसूत्र में इन्हे पाँच यमों के नाम से उल्लेखित किया है। किन्तु उसमें इन पाँच यमों को पाँच महाव्रतों के नाम से भी उल्लेखित किया गया है।

2. नियम

पतंजलि की योग-साधना का द्वितीय सोपान नियम है। पतंजलि के

योगसूत्र में पाँच नियम इस प्रकार बताए गये हैं— 1. शौच 2. संतोष 3. तप 4. स्वाध्याय और 5. ईश्वर प्रणिधान (1. Piousness, 2. Satisfaction, 3. Penance, 4. Study of scriptures and 5. Meditation of the true nature of God or self)

जैन धर्मग्रंथों में ये पाँच नियम भी कुछ भिन्न नामों से स्वीकार किये गये हैं। भगवतीसूत्र में भगवान महावीर सोमिल को समझाते हुए कहते हैं कि मेरी साधना पद्धति छः प्रकार की है— 1. तप, 2. नियम, 3. संयम, 4. स्वाध्याय, 5. ध्यान और 6. आवश्यक (आत्म सजगता के साथ अनिवार्य कर्तव्यों का पालन) जैन आगमों में इनमें से तप और स्वाध्याय का उल्लेख उन्हीं नामों से हुआ है, संतोष का संयम के नाम से और ईश्वर प्रणिधान का ध्यान साधना के नाम से उल्लेख हुआ है। ऋषिभाषित के प्रथम अध्याय में हमें शौच का भी उल्लेख मिल जाता है। यद्यपि जैन आगमों में शौच का उल्लेख मिलता है, तथापि जैनियों में शौच का अर्थ शारीरिक शुद्धि नहीं है, किन्तु वे उसे मानसिक शुद्धि, अर्थात् हृदय की शुद्धता मानते हैं। जैन विचारधारा और पतंजलि-योगसूत्र दोनों ही यह मानते हैं कि ये नियम यमों या महाव्रतों के लिये सहायक हैं। यहाँ हम यह भी कह सकते हैं कि पाँच महाव्रतों की पच्चीस भावनाओं या बत्तीसयोग संग्रह को भी पतंजलि के नियमों की ही तरह माना जा सकता है।

3. आसन

पतंजलि की योगसाधना का तृतीय अंग आसन (Bodily postures विशेष शारीरिक स्थिति) है। इनमें से अनेक आसन जैन परम्परा में कायाव्लेशतप के नाम से माने गये हैं, जो कि बाह्य तपो का छठवाँ प्रकार है। भगवती, औपापतिक और दशाश्रुतस्कंध जैसे जैन आगम ग्रन्थों में भी हमें अनेक प्रकार से आसनों के नाम मिलते हैं जैन धर्म ग्रन्थों में ऐसा भी उल्लेख है कि भगवान महावीर ने केवलज्ञान को गोदुहासन में प्राप्त किया था।

4. प्राणायाम

पतंजलि की योगपद्धति का चतुर्थ सोपान प्राणायाम है। जैन आगम साहित्य में इसके सम्बन्ध में हमें कोई स्पष्ट निर्देशन नहीं मिलता है, केवल आवश्यकसूत्र की चूर्ण भाग पृ. ६५ (७वीं शती) में यह उल्लेख मिलता है कि वार्षिक प्रतिक्रमण (Yearly penitential retreat) के अवसर पर व्यक्ति को एक हजार श्वासोच्छ्वास का ध्यान (कायोत्सर्ग) करना चाहिये। इसी प्रकार चातुर्मासिक

प्रतिक्रमण के अवसर पर पाँच सौ श्वासोच्छ्वास का, पक्षिक प्रतिक्रमण के अवसर पर दो सौ पचास श्वासोच्छ्वास का, दैवसिक प्रतिक्रमण के अवसर पर एक सौ और रात्रिकालीन प्रतिक्रमण के समय पचास श्वासोच्छ्वास का ध्यान करना चाहिये। ज्ञातव्य है कि यहाँ एक श्वास को लेने और छोड़ने के काल को मिलाकर एक श्वासोच्छ्वास कहा गया है। मेरे विचार से यह ऐसा ही था जैसा कि आज भी बौद्ध संप्रदाय के विपश्यना ध्यान-साधना की आनापानसति और तेरापंथ जैन सम्प्रदाय के आचार्य महाप्रज्ञ के प्रेक्षाध्यान की श्वास-प्रेक्षा की पद्धति है। प्रारंभिक जैन धार्मिक ग्रन्थों में कुंभक, पूरक, रेशक, का कोई संदर्भ मुझे नहीं मिला, यद्यपि बाद में जैन आचार्य शुभचन्द्र और हेमचन्द्र ने अपने ग्रन्थ क्रमशः ज्ञानार्णव और योगशास्त्र में अनेक प्रकार के प्राणायामों का उल्लेख किया है।

5. प्रत्याहार

पतंजलि योग सूत्र का पाँचवा सोपान प्रत्याहार है। प्रत्याहार का अर्थ है अपनी ज्ञानेन्द्रियों पर नियंत्रण रखना। जैनधर्म में इसका विस्तारपूर्वक विवेचन प्रतिसंलीनता नाम से छठवे बाह्यतप के रूप में किया गया है। अनेक जैन आगमों में इन्द्रिय-संयम नाम से भी योग के इस पाँचवे अंग का वर्णन हुआ है। उत्तराध्ययनसूत्र के 32 वें अध्याय (21/86) में इसका विशद विवेचन है।

6. धारणा

पतंजलि की योगसाधना पद्धति के छठवें, सातवें और आठवें सोपान क्रमशः धारणा, ध्यान, समाधि है। यद्यपि जैन तर्कशास्त्र में मतिज्ञान का चौथा प्रकार धारणा के रूप में माना जाता है, किन्तु वहाँ धारणा का आशय जैन तर्कशास्त्र की अपेक्षा से है। पतंजलि की योगपद्धति से वह कुछ भिन्न भी है। पतंजलि की योग साधना-पद्धति में धारणा का अर्थ है मन की एकाग्रता, जब कि जैन साहित्य में धारणा का अर्थ है अनुभवों का धारणा करना (Retention of our experiences) पतंजलि की धारणा का आशय जैन संप्रदाय के ध्यान से बहुत कुछ मिलता जुलता है।

7. ध्यान

जैन परंपरा में सामान्यतः ध्यान का अर्थ है— किसी वस्तु या मानसिक संकल्पना पर मन की एकाग्रता (concentration of mind on some object or a thought) उनके अनुसार हमारे विचार और उनका कर्ता मन चंचल या अस्थिर है। मन के नियमन के द्वारा मन की एकाग्रता को ध्यान कहा जाता है। अतः जैनो

के अनुसार ध्यान चार प्रकार के हो सकते हैं— 1. आर्तध्यान—सांसारिक इच्छाओं की पूर्ति के लिये मन की एकाग्रता 2. रौद्रध्यान—हिंसात्मक क्रियाओं के लिये मन की एकाग्रता 3. धर्मध्यान— उदार एवं उदात्त विचारों पर या स्वयं की ओर दूसरों की भलाई के विचार पर मन की एकाग्रता 4. शुक्लध्यान—मन शुक्लध्यान में अपनी एकाग्रता का क्षेत्र क्रमशः सीमित कर लेता है और अंततः विचार स्थिर तथा गतिरहित या निर्विकल्प हो जाते हैं।

8. समाधि

पतंजलि के अनुसार मन, वाणी और काया की विकल्प एवं गति रहित स्थिति समाधि है। दूसरे शब्दों में यह मन की ऐसी निर्विकल्प अवस्था है, जिसमें स्वयं का बाह्य जगत् से संबन्ध टूट जाता है।

पतंजलि योग के तीन आंतरिक अंग धारणा, ध्यान और समाधि जैन मान्यता के ध्यान से ही जुड़े हुए हैं। धारणा और ध्यान को धर्म ध्यान क्री विभिन्न स्थितियों में समाहित किया जा सकता है और समाधि को शुक्ल-ध्यान में। अन्य प्रकार से हम पतंजलि के धारणा और ध्यान को जैन मान्यता के ध्यान के अंतर्गत मान सकते हैं और समाधि को जैन मान्यता के "कायोत्सर्ग" के अंतर्गत।

यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि पतंजलि योग-पद्धति में धारणा, ध्यान और समाधि— इन तीनों को योग-साधना के आंतरिक अंग माना जाता है और आंतरिक अंग होने से वे एक-दूसरे से स्वतंत्र नहीं हैं, लेकिन वे एक दूसरे से सम्बद्ध या अनुस्यूत हैं, क्योंकि धारणा के बिना ध्यान संभव नहीं है और ध्यान के बिना समाधि संभव नहीं है।

9. त्रिविधयोग—

यद्यपि इस आगम युग में अष्टांग योग के ध्यान और अन्य अंग जैनियों में प्रचलित थे, किन्तु तत्कालीन जैन साधना मुक्ति के त्रिपक्षीय या चतुःपक्षीय मार्ग में केन्द्रित थी— उदारणार्थ सम्यक्-दर्शन या सम्यक्-श्रद्धान (Right-Faith), सम्यक्-ज्ञान (Right-knowledge) सम्यक्-चरित्र (Right-conduct) और सम्यक्-तप या आत्म संयम । इनमें से सम्यक्-चरित्र और सम्यक्-तप को एक ही मानकर उमास्वाति और अन्य जैन आचार्यों ने मुक्ति का त्रिपक्षीय मार्ग बताया है। मुक्ति का यह त्रिपक्षीय मार्ग सामान्यतः हिन्दुओं और बौद्धों में भी मान्य रहा है। हिन्दुओं में यह भक्तियोग, ज्ञानयोग और कर्मयोग के रूप में और बौद्धों में शील, समाधि और प्रज्ञा के रूप में स्वीकार्य है। सम्यक्-ज्ञान की तुलना गीता

के ज्ञानयोग से और बौद्धों की प्रज्ञा के साथ की जा सकती है। इसी प्रकार सम्यक्-दृष्टिकोण या सम्यक्-श्रद्धा की तुलना गीता के भक्तियोग और बौद्धों की सम्यक्-दृष्टि के साथ तथा सम्यक्-चरित्र की तुलना गीता के कर्मयोग और बौद्धों के शील के साथ हो सकती हैं। लेकिन यहाँ हमें इस तथ्य के प्रति सचेत रहना चाहिये कि— हिन्दु विचारकों के अनुसार मुक्ति की प्राप्ति के लिये मान्य साधनों के इन तीनों अंगों में से किसी भी एक अंग का अनुगमन पर्याप्त है, अर्थात् मात्र ज्ञानयोग, कर्मयोग या भक्तियोग से भी मुक्ति संभव है। किन्तु जैन विचारक इससे सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार साधना के इन तीनों अंगों में से एक का भी अभाव हो तो मुक्ति की प्राप्ति असंभव है। इस प्रकार जैनों को इन तीनों प्रकार के योगों अर्थात् **भक्तियोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग** का संश्लिष्ट रूप ही मान्य है।

यहाँ यह दृष्टव्य है कि जैनों का यह त्रिपक्षीय मार्ग भी सामयिक या समत्वयोग की साधना में समाहित हो सकता है। जैनों के लिए सम्यक्-दृष्टि या सम्यक्-श्रद्धा, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्र का उत्कृष्ट सम्मिश्रण समत्वयोग है। उत्तराध्ययनसूत्र (28/30) में कहा गया है कि सम्यक् दृष्टिकोण या श्रद्धा के बिना सम्यक्-ज्ञान संभव नहीं है और सम्यक्-ज्ञान के बिना सम्यक्-चारित्र भी संभव नहीं और सम्यक्-चारित्र या आचरण के बिना मुक्ति भी अप्राप्त ही है। इस प्रकार मुक्ति की प्राप्ति के लिये ये तीनों आवश्यक हैं।

समत्वयोग—

जैनियों का मूल सैद्धांतिकयोग या तात्विकयोग— (fundamental yoga of jainism) सामयिक या समत्वयोग है। यह जैनियों की एक प्रमुख अवधारणा है और भिक्षु और गृहस्थ के षट् कर्तव्यों में सर्वप्रथम है। प्राकृत शब्द समाइय (samaiy) का अग्नेजी में अनुवाद अनेक प्रकार से हुआ है, जैसे चित्त की स्थिरता (observance of equanimity), सब जीवों को अपने समान समझना (viewing all the living beings as one's own self), समता की भावना व्यक्ति के व्यवहार में संतुलन की स्थिति (harmanious state of ones behaviour), व्यक्तित्व की क्रमिक पूर्णता के साथ मन, वाणी और शरीर की क्रियाओं में पवित्रता या पूर्ण सदाचार का परिपालन (integration of personality as well as righteousness of one's mind, body and specch) आदि। आचार्य कुंदकुंद ने भी 'समाहि' (समाधि) पद का प्रयोग सामायिक के आशय से किया है जहाँ इसका अर्थ है चेतना की तनाव मुक्त स्थिति अथवा आत्मसंयम की स्थिति (tentionless state

of conciousness or a state of self absorption) सामान्य रूप से सामायिक शब्द का अर्थ है— ऐसा विशिष्ट आध्यात्मिक अभ्यास, जिसके द्वारा व्यक्ति चित्त की स्थिरता को प्राप्त कर सके (particular religious practice through which one can attain equanimity of mind)। यह अपने आप में एक साध्य के साथ साथ साधना भी हैं। साधना के रूप में यह चित्त की निर्विकल्प स्थिति को प्राप्त करने का अभ्यास है और साध्य के रूप में यह एक ऐसी स्थिति है, जिसमें व्यक्ति वैकल्पिक कामनाओं, आवेगों और उद्वेगों, राग-द्वेष और इच्छाओं की दौड़-धूप से पूर्णतः मुक्त रहता है। यह आत्मलीनता (self-absorption) अथवा स्वयं की आत्म शान्ति (resting in one's own self) की स्थिति हैं।

इस काल में जैन योग पर अन्य योग पद्धतियों का प्रभाव—

प्रारम्भिक काल में किसी एक योग-पद्धति पर अन्य योग-पद्धति का प्रभाव दर्शाना बहुत कठिन है, क्योंकि तत्कालीन धार्मिक ग्रन्थ या साहित्य में ऐसे कोई भी निश्चित प्रमाण हमें नहीं मिलते हैं, जिनसे एक का प्रभाव दूसरे पर सिद्ध हो सके। उस (प्रारम्भिक) काल में भारत की 'श्रामणिक' परम्परा (ramanic trend) विभिन्न प्रकार के निश्चयात्मक सम्प्रदायों भूमिकाओं में विभाजित नहीं हुई थी, किन्तु इस द्वितीय काल में जिसे आगम युग (canonical period) माना जाता है, दार्शनिक विचारों के विभिन्न वर्गों ने अपने विशिष्ट नामों के साथ एक निश्चित रूप ग्रहण कर लिया था, जैसे जैन, बौद्ध, आजीवक, सांख्य, योग आदि। इस काल में जैनयोग और बौद्धयोग तथा पतंजलि के योग में अनेक प्रकार की समानताएँ मिलती हैं। पं. सुखलालजी ने अपनी 'तत्त्वार्थसूत्र' की भूमिका (पृ. ५५) में इन समानताओं का विस्तार से विवेचन किया है, लेकिन इन समानताओं के आधार पर एक का प्रभाव दूसरे पर सिद्ध करना बहुत कठिन हैं। यद्यपि सामान्यतः यह माना जा सकता है, कि इन सभी पद्धतियों का एक ही मूल स्रोत रहा है, जिससे ये विकसित हुई है और वह एक स्रोत था— भारतीय 'श्रमण-परम्परा'। परवर्ती काल में विशेष रूप से आगम युग में हमें पतंजलि के योगसूत्र और उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र में कुछ समानताएँ अवश्य मिलती हैं, लेकिन उनके नामकरण और व्याख्याएँ अलग अलग प्रकार से हुई हैं— इससे एक का प्रभाव दूसरे पर सिद्ध नहीं हो सकता।

यद्यपि पं. सुखलालजी ने अपने तत्त्वार्थसूत्र की भूमिका (पृ. ५५) में तत्त्वार्थसूत्र और योगदर्शन में समान मान्यता के इक्कीस विचार-बिन्दु दिये हैं, ये

एक जैसे लक्षण केवल समानता दर्शाते हैं, लेकिन कुछ को छोड़ उनके नाम और आशय सर्वथा भिन्न हैं और इस भिन्नता के कारण हम यह नहीं कह सकते हैं कि एक पद्धति ने इनको दूसरी पद्धति से लिया है, इससे केवल उनके एक ही स्रोत का पता चलता है, कि इस आगम काल (canonical age) में जैनियों की उनकी अपनी एक विशिष्ट ध्यान-पद्धति रही थी। यह भी पूरी तरह मान्य था कि उसके द्वारा साधना के अन्तिम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त (ultimate end of emancipation) किया जा सकता था। जैन धर्म के ग्रन्थों में जिनभद्र के ध्यानशतक में ध्यान चार प्रकार का माना गया— आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान। इन चार प्रकार के ध्यानों में प्रथम दो— आर्तध्यान और रूद्रध्यान बन्धन का कारण होने से त्याज्य माने गये थे और अंतिम दो— धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान मोक्ष (emancipation) का कारण होने से ग्राह्य माने गये थे।

मेरे विचार में ध्यान के इन चार प्रकारों का वर्गीकरण केवल जैन आचार्यों की ही देन है, अन्य किसी भी भारतीय साधना-पद्धति में इस प्रकार का वर्गीकरण और ध्यान के ये नाम भी हमें नहीं मिलते हैं। इसलिये हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं, कि कुछ समान लक्षणों (common feature) के आधार एक का दूसरे पर प्रभाव दर्शाना बहुत कठिन है। इसी प्रकार 'समत्वयोग' जैनयोग की एक प्रमुख मान्यता (key concept) है सामान्यतः बौद्ध और हिन्दु साधना पद्धति का लक्ष्य तो वही है, भगवद्गीता में तों विशेष रूप से समत्व की साधना को ही योग कहा गया है। लेकिन हम यह नहीं कह सकते हैं कि समत्वयोग की यह अवधारणा जैनो ने हिन्दुओं से ली है, क्योंकि आचारांग में भी इस तथ्य को प्रतिपादित किया गया। आचारांग गीता से पूर्वकाल का ग्रन्थ है।

3. आगमिक व्याख्याकाल में हिरभद्र द्वारा उल्लेखित विभन्न योग

जैनयोग के विकास की दृष्टि से यह काल बहुत महत्वपूर्ण है, इसके दो कारण हैं। सर्वप्रथम यह कि इस काल में जैन परम्परा में योग सम्बन्धी विपुल साहित्य लिखा गया और उसमें विभिन्न योगों का उल्लेख हुआ। दूसरे इसी काल में अन्य योग पद्धतियों के जैनयोग पर आये प्रभाव को भी स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। इस काल के जैन साहित्य में हमें निम्न योग सम्बन्धी उल्लेख मिलते हैं जैसे— पांच-यम (महाव्रत), पांच-नियम कुछ आसन (शारीरिक स्थितियाँ) इन्द्रियो का नियंत्रण और कुछ दार्शनिक तथा धार्मिक निर्देशन के साथ विविध प्रकार के ध्यान। लेकिन इस प्रकार के योग सम्बन्धी विवरण को पूरी तरह

जैनयोग नहीं माना जा सकता है।

मेरे विचार से जैन परम्परा में ध्यान पर प्रथम कृति है, जिनभद्रगणि की ध्यानशतक (6ठी शताब्दी), इसमें ध्यान की जैन आगमिक पद्धति का पूर्णतः अनुसरण देखा जाता है और यह समग्र रूप से जैन-धर्म ग्रन्थों (jain canonical work) जैसे कि स्थानांग तथा अन्य जैनागमो पर आधारित है। स्थानांग में 'ध्यान' के मुख्य चार प्रकारों और इनके उपभेदों का वर्णन है, साथ ही 1. उनके विषय (their objects), 2. उनके लक्षण (their signs), 3. उनकी आलंबन (their conditions), 4. उनकी भावना (their reflexion), का भी उल्लेख हैं, लेकिन ध्यानशतक का ध्यान का यह विवरण भी पूरी तरह जैन आगम परम्परा के अनुसार ही है, यद्यपि इसमें कुछ अन्य बातों का भी विवरण है जैसे— ध्यान के उपभेद, ध्यान का समय, ध्यान के उदाहरण, ध्याता की योग्यता (ualities of meditator), ध्यान के परिणाम आदि। जिनभद्र ने इनमें से प्रथम दो अशुभ ध्यानों (unauspicwous dhyanas) का संक्षेप में और अंतिम दो शुभ ध्यानों (uspicious dhyanas) का विस्तार से वर्णन किया है, क्योंकि उनके अनुसार प्रथम दो ध्यान बन्धन के कारण है (causes of bondage), जबकि अंतिम दो ध्यान मोक्ष के साधन है (the means of emancipation) और इसीलिये उनको योग— साधना के अंग माना गया हैं।

जिनभद्रगणि और पूज्यपाद देवनन्दी के पश्चात् हरिभद्र ऐसे जैन आचार्य हुए हैं, जिनका जैनयोग पद्धति की पुर्नरचना (Reconstrction of jain yog) में और अन्य योग पद्धतियों के साथ जैनयोग पद्धति के समन्वय के क्षेत्र में अवदान रहा हैं। उन्होंने जैनयोग संबन्धी 4 महत्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की है— योगविशिका, योगशतक, योगबिन्दु, और योगदृष्टिसमुच्चय। आचार्य हरिभद्र ही एक ऐसे व्यक्ति हैं, जिन्होंने जैन परम्परा में योग शब्द की परिभाषा को पहली बार बदल दिया। जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है, आगमयुग (canonical period) में 'योग' शब्द बन्धन का कारण माना गया है। जबकि आचार्य हरिभद्र ने योग को मोक्ष का साधन के रूप में परिभाषित किया है। उनके अनुसार समस्त आध्यात्मिक और धार्मिक क्रियाएँ, जो अंत में मोक्ष तक ले जाती हैं—योग हैं।

हरिभद्र ने अपने सम्पूर्ण योग साहित्य में सामान्यतः यही मत व्यक्त किया है कि सभी धार्मिक और आध्यात्मिक क्रियाएँ जो कि मोक्ष तक पहुँचाती हैं, योग के रूप में मान्य हैं। यह दृष्टव्य है कि उन्होंने अपने योग साहित्य में योग को भिन्न प्रकार से समझाया हैं। प्रथम तो यह कि उन्होंने अपनी योगविशिका

(yogavinsika) में योग के निम्न 5 भेद बतायें हैं।

1. **स्थानयोग** अर्थात् आसन का अभ्यास (practice of proper posture)
2. **उर्णयोग** अर्थात् ध्वनि का सही उच्चारण (correct utterance of sound)
3. **अर्थयोग** – धार्मिक योग ग्रन्थों के अर्थ को सही रूप में समझाना (proper understanding of the meaning of canonical work)
4. **आलम्बनयोग** – किसी विशिष्ट लक्ष्य जैसे जिनप्रतिमा आदि पर मन की एकाग्रता (concentration of mind on a object as jina image etc.) इस अवस्था में जिन के या आत्मा के अमूर्त गुणों (abstract qualities of jina or self) के चिन्तन में चित्तवृत्ति की एकाग्रता (concentration of thought) होती है।
5. **अनालम्बनयोग** – इस पाँचवी स्थिति को आत्मा या मन की विचारहीन अवस्था (thoughtless state of the self) या निर्विकल्पदशा भी कहा जा सकता है।

योग के इन पाँच भेदों में से प्रथम दो योग साधना के बाह्य पक्ष से जुड़े हुए हैं और अंतिम तीन योग साधना के आंतरिक पक्ष से, दूसरे शब्दों में प्रथम दो योग कर्म-योग हैं और अंतिम तीन योग ज्ञान-योग हैं। हरिभद्र ने अपने योगबिन्दु नामक ग्रन्थ में योग के अन्य 5 भेदों का वर्णन किया है—

1. आध्यात्मिक जीवन दृष्टि (spiritual vision) या आध्यात्मयोग
 2. वैचारिक एकाग्रता (couter ptation) या भावनायोग
 3. चित्तवृत्ति की एकाग्रता या ध्यानयोग
 4. मानसिक समत्व (mental equaminity) समतायोग
 5. मन, वाणी और काया की समस्त क्रियाओं का निरोध (ceasetion of all the activities of mind, speech and body) अर्थात् वृत्ति-संक्षययोग
- किन्तु हरिभद्र ने अपने 'योगदृष्टिसमुच्चय' में योग के केवल तीन भेद बताएँ हैं—
1. आत्मानुभूति या योग साधना के लिए इच्छा (illingness for self realization or yogic sadhna) अर्थात् इच्छायोग
 2. आध्यात्मिक आदेशों का अनुसरण (the followup of the spritual orders) अर्थात् शास्त्रयोग
 3. आत्मा की आध्यात्मिक शक्तियों का विकास और आध्यात्मिक आन्तरिक

ऊर्जा की संप्रति (development of ones spiritual powers and inhilation of spiritual inertia) अर्थात् सामर्थ्ययोग

हरिभद्र के "योगदृष्टिसमुच्चय" में प्रतिपादित योग के इन तीन प्रारूपों की जैनियों के त्रिरत्न (three jewels) के साथ तुलना भी की जा सकती है, अर्थात् सम्यक्-दर्शन (right vision), सम्यक्-ज्ञान (right knowledge) और सम्यक्-चारित्र (right conduct), क्योंकि ये त्रिरत्न जैनियों में मोक्षमार्ग या दूसरे शब्दों में मोक्ष के पथ हैं, इसलिये—ये योग है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि योग के विभिन्न अंगों या सोपानों के सम्बन्ध में हरिभद्र ने अपने ग्रन्थ में अनेक प्रकार के मन्तव्यों को प्रकट किया है, किन्तु एक बात उन्होंने सामान्य रूप से स्वीकार की है कि योग वह है जो मोक्ष से जोड़ दे। यहाँ हम हरिभद्र पर कुलार्णवतन्त्र तथा अन्य योग ग्रन्थों का प्रभाव देख सकते हैं, क्योंकि इन्होंने भी कुलयोगी का उल्लेख भी किया है, लेकिन सामान्यतः हरिभद्र ने भोगवादी तान्त्रिक साधना की आलोचना ही की है। इसकाल में हरिभद्र के बाद दो अन्य जैन आचार्या हुए हैं— 1. शुभचन्द्र (11वीं सदी) और 2. हेमचन्द्र (12वीं सदी) जिनका अवदान जैन योग के क्षेत्र में महत्वपूर्ण है, लेकिन ये दोनों आचार्य हिन्दू-तन्त्र से बहुत अधिक प्रभावित (dominated) हैं। इनमें शुभचन्द्र दिगम्बर जैन परम्परा से संबद्ध हैं और उनका प्रसिद्ध योग सम्बन्धी ग्रन्थ "ज्ञानार्णव" के रूप में जाना जाता है। हेमचन्द्र श्वेताम्बर जैन परम्परा से संबद्ध हैं, और उनका उल्लेखनीय ग्रन्थ "योगशास्त्र" के रूप में जाना जाता है। यौगिक साधना के लिये शुभचन्द्र ने मंगलकारी ध्यान (uspicious meditation) की पूर्व तैयारी (pre-requisite of auspicious meditation) के लिये 4 प्रकार की भावनाएँ (विनत विसक अपतजनमे) बताई हैं—

1. **मैत्री**— सभी प्राणियों के साथ मित्रता का भाव (friendship with all beings)
2. **प्रमोद**— दूसरों के गुणों की प्रशंसा की वृत्ति (appreciations of lee merits of others)
3. **करुणा**—अभावग्रस्त लोगों के प्रति सहानुभूति (sympathy towards the needy persons)
4. **माध्यस्थ**—विरोधी जनों या अनैतिक आचरण करने वालों के प्रति समभाव (equanimity or indifference toward unruly) दृष्टव्य है कि ये

चार भावनाएँ (four reflexion) बौद्धों में और पतंजलि के योगसूत्र में समान रूप से मानी गयी हैं। दूसरी बात यह है कि धर्मध्यान की विवेचना करते हुए इनने उसके चार प्रकार बताए— पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत। साथ ही पिण्डस्थ ध्यान की धारणा के पाँच भेद— पार्थिवी, आग्नेयी, वायवी (श्वसन), वारूणी और तत्त्वरूपवती बताये हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि ये चार प्रकार के ध्यानों में धर्मध्यान की पाँच प्रकार की धारणाएँ बौद्ध और हिन्दू तांत्रिक ग्रन्थों में ही पायी जाती हैं, प्राचीन जैन साहित्य में नहीं। शुभचन्द्र के बाद जैनयोग के अन्य प्रमुख आचार्य हैं— हेमचन्द्र। यद्यपि हेमचन्द्र ने अपने योगशास्त्र में सामान्यतः जैनों के त्रिरत्नों— सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्-चरित्र अर्थात् ज्ञानयोग, शक्तियोग और कर्मयोग का ही विवेचन किया है, लेकिन इसमें उन्होंने सम्यक्-चरित्र पर ही बहुत अधिक जोर दिया है। ध्यान के चार प्रकारों का विवेचन करते हुए उन्होंने भी पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यान का वर्णन उपयुक्त पाँच धारणाओं के साथ किया है। लेकिन इस संदर्भ में विद्वानों का मत है कि उन्होंने ये विचार शुभचन्द्र के ज्ञानार्णव से लिये हैं। यह ग्रन्थ उनके योगशास्त्र से पहले का है।

संक्षेप में ध्यान और धारणा के ये भेद पहले शुभचन्द्र ने हिन्दूतन्त्र से लिये और तब हेमचन्द्र ने शुभचन्द्र का अनुगमन किया। इस प्रकार इस काल में जैन योग पर अन्य योगसाधनाओं का प्रभाव सरलता से देखा जा सकता है। इसकाल में अन्य योग पद्धति का जैनियों पर प्रभाव—

जिनभद्र के ध्यानशतक और पूज्यपाद के समाधिशतक इसकाल की प्रारम्भिक कृतियाँ हैं, जिनमें हमें अन्य योग साधना पद्धतियों का प्रभाव नहीं दिखाई देता है। क्योंकि जैन साहित्य में ध्यानशतक एवं समाधिशतक में ही जैनों की मान्यता के अनुसार चार ध्यानों का वर्णन है। इसकाल में जैन योग पर अन्य योग पद्धतियों के प्रभाव को शुभचन्द्र और हेमचन्द्र के ग्रन्थों पर देखा जा सकता है। हरिभद्र ने अपने योग सम्बन्धी ग्रन्थों में योग साधना की विभिन्न स्थितियों का वर्णन अलग ही नामों से किया है। यह स्पष्ट है कि वे मूलतः ब्राह्मण परम्परा से सम्बद्ध रहे हैं, इसलिये इसमें कोई संदेह नहीं कि वे अन्य योग ग्रन्थों से प्रभावित रहे हैं। लेकिन एक बात बहुत ही स्पष्ट है कि वे जैन योग परम्परा के

प्रति पूरी तरह ईमानदार रहे हैं।

हिन्दू परम्परा के योगवंशिष्ठ में योग—साधना की तीन स्थितियाँ हैं— 1. सम्पूर्ण समर्पण 2. मानसिक शांति और 3. शरीर तथा मन की क्रियाओं का पूर्ण निरोध। हरिभद्र ने भी अपने योगदृष्टिसमुच्चय में जिन तीन योगों का उल्लेख किया है— 1. इच्छायोग 2. शास्त्रयोग और 3. सामर्थ्ययोग— वे जैनों के त्रिरत्न पर आधारित हैं। इनमें से इच्छायोग—सम्पूर्ण समर्पण के समान है क्योंकि इसके अन्त में अपनी कोई इच्छा बचती ही नहीं है और सामर्थ्य योग योगवाशिष्ठ की अन्य दो स्थितियों मानसिक शांति तथा शरीर मन की संपूर्ण क्रियाओं के निरोध के समान है।

योगबिन्दु में हरिभद्र ने योग के निम्न प्रकार बताए हैं—

1. आध्यात्मयोग (spiritualism)— आध्यात्मिकता
2. भावनायोग (contemplation)— धारणा
3. ध्यानयोग (meditation)— ध्यान
4. समतायोग (equanimity of mind)— मन की समता स्थिति
5. वृत्तिसंक्षययोग (ceasation of all activities of mind, body and speech) मन, वाणी और शरीर की सब क्रियाओं का निरोधयोग के इन पाँच भेदों में आध्यात्मयोग को अन्य योगपद्धतियों में “महायोग” के रूप में मान्य किया गया है। भावना और ध्यान की अवधारणाएँ हिन्दू योगपद्धति में भी हैं। समतायोग और वृत्तिसंक्षय—योग जैसा कि हम देख ही चुके हैं, ये दोनों योग योगवाशिष्ठ में भी उल्लेखित हैं और वृत्तिसंक्षय—योग, लय—योग के अन्तर्गत आता है। हरिभद्र ने अपनी योगविशिका में जो चार प्रकार के योग बताए हैं— 1. आसन (शरीर की स्थिति विशेष body- posture) 2. ऊर्ण (मंत्रोच्चारण—recitation of mantr) 3. आलंबन और 4. अनालंबन। आसन की अवधारणा पतंजलि के योगसूत्र में भी विद्यमान है। इसी तरह ऊर्ण को हिन्दू योगपद्धति में मंत्रयोग या जपयोग के रूप में माना गया है और इसी तरह आलंबन को भक्तियोग तथा अनालंबन को लययोग के रूप में बताया गया है। इसीप्रकार हरिभद्र द्वारा आठ योगदृष्टियों की व्यवस्था भी पतंजलि के अष्टांग योग के आधार पर की गई हैं।

यद्यपि हरिभद्र ने इन विभिन्न अवधारणाओं को बौद्ध तथा हिन्दू तन्त्र पद्धतियों से लिया है, किन्तु उनकी विशेषता यह है कि उन्होंने इनको जैन

समत्वयोग और अन्य योग : 33

परम्परानुसार व्यवस्थित किया है और नाम दिये हैं। लेकिन जहाँ तक पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यान और उनकी पार्थिवी, आग्नेयी, वायवी और वारुणी धारणाओं का संबंध है, वे शुभचन्द्र के ज्ञानार्णव में और हेमचन्द्र के योगशास्त्र में हिन्दू तन्त्रवाद के प्रभाव से ही आई हैं। यहाँ एक बात और उल्लेखनीय है कि उक्त दोनों ग्रन्थों में पतंजलि के अष्टागयोग का विस्तार से वर्णन है। इसलिये हमें यह मानना ही चाहिये कि उक्त दोनों आचार्य पतंजलि के योगसूत्र और अन्य हिन्दू तान्त्रिक साहित्य— जैसे कि घेरण्डसंहिता, कुलार्णव आदि से बहुत अधिक प्रभावित हुए हैं।

मंत्र और तन्त्र के प्रभाव का काल (13वीं सदी से 19वीं सदी)—

हेमचन्द्र के बाद और यशोविजय के पहले अर्थात् 13वीं सदी से 16वीं सदी तक की चार शताब्दियों को जैनयोग का अंधयुग (Dark age of jain yoga) माना जा सकता है। इसकाल में जैनयोग जो कि मूलतः आध्यात्मिक प्रकार का था, पूरी तरह से नैपथ्य में चला गया (gone into background) और कर्मकाण्ड प्रधान तन्त्र और मंत्र ही प्रमुख हो गये। इसकाल में योगसाधना का उद्देश्य मुक्ति या आत्मविशुद्धि के बजाय सांसारिक उपलब्धियाँ हो गया था। इस प्रकार योगसाधना का आध्यात्मिक उद्देश्य पूर्णतः भुला दिया गया और उसका स्थान भौतिक कल्याण और वासना पूर्ति ने ले लिया। यद्यपि इन शताब्दियों में जैन साहित्य में अन्य दर्शनों की आलोचना हेतु भी ग्रन्थ लिखे गये, लेकिन योग की दृष्टि से इस काल का प्रमुख लक्षण तन्त्र, मन्त्र और कर्मकांड, पूजा—पाठ (Rituals) ही था। इसलिये इन शताब्दियों में जैन आचार्यों ने स्तुति—स्तोत्र पूजा—पाठ तथा तंत्र—मंत्र साधना संबंधी साहित्य की रचना की। इस काल के आरम्भ में शासन—देवताओं (यक्ष—यक्षी), भैरव और योगिनियों की पूजा अधिक महत्वपूर्ण हो गई थी, जिसका उद्देश्य भक्त की भौतिक कल्याण की कामना ही था, और इसी कारण अनेक हिन्दू देवी—देवताओं को शासनरक्षक देवों के रूप में जैनियों ने पूरी तरह मान लिया।

इस काल के अन्त में जैनयोग के आध्यात्मिक स्वरूप का पुनरावर्तन यशोविजय (17वीं शताब्दी) द्वारा हुआ। उन्होंने हरिभद्र के ग्रन्थों की टीकाएँ लिखी और उसके साथ साथ ही आध्यात्मसार, ज्ञानसार, आध्यात्मोनिषद् सरीखे मौलिक योग ग्रन्थों की रचना की और इन पर भी टीकाएँ भी लिखी। यही नहीं यशोविजयजी ने पतंजलि के योगसूत्र पर भी एक टीका भी लिखी है। इसी प्रकार

इस काल के एक अन्य जैन आध्यात्मिक विचारक हुए हैं, जैसे आनन्दघन। आनन्दघन ने 24 तीर्थंकरों की प्रशंसा में लिखे हुए अपने पदों और गीतों के द्वारा जैन आध्यात्मिकता और योगसाधना का पुनरावर्तन किया। यशोविजयजी और आनन्दघनजी का साहित्य पूर्णतः हरिभद्र से प्रभावित है, फिर भी उन पर पतंजलि के राजयोग और हठयोग का प्रभाव देखा जा सकता है।

जैसा कि पहले ही मैं कह चुका हूँ, इस काल का प्रमुख लक्षण था, जैन-योग पर हिन्दू परम्परा के हठयोग की कुंडलिनी जागरण और षट्चक्र भेदन की अवधारणा का प्रभाव जैन-योग परम्परा में भी आया है।

आधुनिक काल (20वीं शताब्दी)

आधुनिक काल में हम देखते हैं कि जैनयोग की साधना में बहुत अधिक परिवर्तन और विस्तार हुआ है। इसकाल में तनाव-मुक्ति (tension relaxation) के एक साधन के रूप में योग और ध्यान के प्रति जन सामान्य का आकर्षण बहुत बढ़ गया है। आज मानवजाति अपने लोभ और आकांक्षाओं से उत्पन्न तनावों से पूरी तरह जकड़ी हुई है, बुरी तरह ग्रस्त हैं। यह एक संयोग ही था कि श्री एस.एन. गोयनका का वर्मा से भारत लोटे तो भारत में प्राचीन बौद्ध विपश्यना ध्यान की उपलब्धि हुई जो कि प्रारम्भिक जैन साधना में भी थी। तेरापंथी जैन सम्प्रदाय के आचार्य महाप्रज्ञ जी ने पहली बार इसे गोयनका जी से समझा और जैन धर्म के विधि-विधान संबंधी स्वयं की जानकारी तथा पतंजलि योगसूत्र के आधार पर ध्यान की इस पद्धति को प्रेक्षा-ध्यान के नाम से व्यवस्थित रूप दिया। हमारे समय में प्रेक्षा-ध्यान जैनयोग की एक महत्वपूर्ण विधि हैं। यद्यपि कुछ अन्य जैन सम्प्रदायों के आचार्यों ने भी ध्यान और योग की उनकी अपनी पद्धतियाँ का विकास किया, किन्तु उनमें नया कुछ नहीं है, सिर्फ प्रेक्षा और विपश्यना की मिलावट है। यहाँ यह भी दृष्टव्य है कि हमारे समय का प्रेक्षा-ध्यान भी बौद्ध-जैन परम्परा के विपश्यना और पतंजलि के अष्टांगयोग तथा हठयोग के साथ कुछ आधुनिक मनोविज्ञानिक अवधारणाओं का सम्मिश्रण है।

संक्षेपतः हम कह सकते हैं कि प्रारम्भिक काल में अर्थात् महावीर के पहले जैनयोग और ध्यान-पद्धतियाँ तो थी ही, किन्तु अपनी प्रक्रिया के सम्बन्ध में अस्पष्ट थी। हम उनको प्रारम्भ की अन्य श्रामणिक परम्पराओं से पृथक नहीं कर सकते, क्योंकि उससे सम्बन्धित साहित्य तथा अन्य प्रमाणों का अभाव है। द्वितीय काल में अर्थात् आगम काल में प्राणायामके अतिरिक्त पतंजलि योग सूत्र

के अन्य सात अंगों की साधना भी जैन साधुओं और साध्वियों द्वारा की जाती थीं, आगम में उनके उल्लेख भी है, लेकिन हमें यह कहने का कोई अधिकार नहीं है, कि पतंजलि ने इनको जैनियों या अन्य श्रमण परम्पराओं से ग्रहण किया, अथवा जैनियों और अन्य श्रमण परम्पराओं में इनको पतंजलि से ग्रहण किया। मेरे विचार से दोनों ने ही इन्हे भारत की प्राचीन श्रमण परम्परा से ही ग्रहण किया, जिसकी ये शाखाएँ हैं।

तृतीय और चतुर्थ काल के सम्बन्ध में हम केवल यह कह सकते हैं कि इन कालों में जैनियों ने जैनयोग और ध्यान सम्बन्धी अनेक कर्मकांड परक पद्धतियाँ हिन्दू और बौद्ध तान्त्रिक साधनाओं से ग्रहण की इन दोनों कालों में जैनयोग और ध्यान पर अन्य पद्धतियों का प्रभाव सरलता से देखा जा सकता है। वर्तमान समय में जैनयोग और ध्यान साधना पुनर्जीवित हो गई है और सामान्यतः जैन लोगों में उसके प्रति सजगता है, लेकिन यह स्पष्ट है कि जैनयोग और ध्यान की वर्तमान पद्धतियों का विकास पूरी तरह विपश्यना और पतंजलि के अष्टांगयोग की साधना के साथ कुछ आधुनिक मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक अध्ययनों इसके आधार पर हुआ है

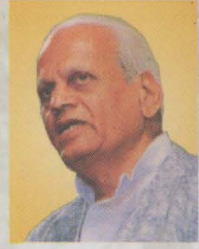
अंत में मैं अपने इस आलेख का समापन आचार्य अमितगति के "सामायिक-पाठ" के एक सुन्दर उद्धरण के साथ करना चाहूँगा—

“सत्त्वेषु मैत्रीं गुणेषु प्रमोदम्
 क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्
 माध्यस्थ भावं विपरीतवृत्तौ
 सदा ममात्मा विददातु देव।।

हे भगवान ! मैं संसार के सब प्राणियों के प्रति मैत्रीभाव रखूँ और गुणीजनों से मिलने पर प्रसन्नता का अनुभव करूँ। जो अत्यन्त दुःखी अवस्था में हैं, उनका सदा सहायक बनूँ और अपने विरोधियों के प्रति सहनशील रहूँ।

डॉ. सागरमल जैन

जन्म तिथि	: दि. 22.02.1932
जन्म स्थान	: शाजापुर (म.प्र.)
शिक्षा	: साहित्यरत्न : 1954 एम.ए. (दर्शन शास्त्र) : 1963 पी-एच. डी. : 1969
अकादमिक उपलब्धियाँ	: प्रवक्ता म.प्र. शास. शिक्षा सेवा (1964-67), सहायक प्राध्यापक (1968-85), प्राध्यापक (प्रोफेसर) (1985-89), निदेशक, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी (1979-97)
लेखन	: 30 पुस्तकें, 25 लघु पुस्तिकाएँ
सम्पादन	: 150 पुस्तकें
सम्पादक	: जैन विद्या विश्वकोष (पार्श्वनाथ विद्यापीठ की महत्वाकांक्षी परियोजना) 'श्रमण' त्रैमासिक शोध पत्रिका
पुरस्कार	: प्रदीपकुमार रामपुरिया पुरस्कार (1986,1998), स्वामी प्रणवानन्द पुरस्कार (1987), डिप्टीमल पुरस्कार (1992), आचार्य हस्तीमल स्मृति सम्मान (1994), विद्यावारिधि सम्मान (2003), कलां मर्मज्ञ सम्मान (2006), जैन प्रेसीडेन्शियल अवार्ड (यू.एस.ए. 2007), गौतमगणधर पुरस्कार (2008), आचार्य तुलसी प्राकृत पुरस्कार (2009).
सदस्य: अकादमिक समिति:	विद्वत् परिषद, भोपाल विश्वविद्यालय, भोपाल जैन विश्वभारती संस्थान लाडनूं मानद निदेशक, आगम, अहिंसा, समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर।
सम्प्रति विदेश भ्रमण	संस्थापक एवं निदेशक प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर (म.प्र.) शिकागो, राले, ह्यूस्टन, न्यूजर्सी, उत्तरी करोलीना, वाशिंगटन, सेनफ्रांसिस्को, लॉस एंजिल्स, फिनीक्स, सेंट लूईस, पिट्सबर्ग, टोरण्टो, न्यूयार्क, कनाडा और लंदन यू.के.।



प्राच्य विद्यापीठ : एक परिचय



डॉ. सागरमल जैन पारमार्थिक शिक्षण न्यास द्वारा सन् 1997 से संचालित प्राच्य विद्या पीठ, शाजापुर आगरा-मुम्बई राष्ट्रीय राजमार्ग पर स्थित इस संस्थान का मुख्य उद्देश्य भारतीय प्राच्य विद्याओं के उच्च स्तरीय अध्ययन, प्रशिक्षण एवं शोधकार्य के साथ-साथ भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों को पुनः प्रतिष्ठित करना है।

इस विद्यापीठ में जैन, बौद्ध और हिन्दु धर्म आदि के लगभग 12,000 दुर्लभ ग्रन्थ उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त 700 हस्तलिखित पाण्डुलिपियाँ भी हैं। यहाँ 40 पत्रपत्रिकाएँ भी नियमित आती हैं।